संस्कृत-विमर्शः

[redacted]

प्रधान-सम्पादकः

डा०-मधुसूदन-मिश्रः,

निदेशकः

सम्पादकः

श्री-सुबोधचन्द्र-पन्तः

उपनिदेशकः

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संस्कृत - विमर्शः

(राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानस्य षाण्मासिकी शोध-पत्रिका)

सप्तदशः खण्डः | १९८९ | प्रथम-द्वितीयौ-भागौ

प्रधान-सम्पादकः

डा०-मधुसूदन-मिश्रः,

निदेशकः

सम्पादकः

श्री-सुबोधचन्द्र-पन्तः

उपनिदेशकः

राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्

[ए-40, विशाल एन्क्लेव

राजा गार्डन, नई दिल्ली-110027]

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रकाशकः
डा०-मधुसूदन-मिश्रः, निदेशकः
राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्
[ए-40, विशाल एन्क्लेव, राजा गार्डन
नई दिल्ली-110027]

मूल्यं पञ्चदश रूप्यकाणि

[मुद्रक
अमर प्रिंटिंग प्रेस
8/25, विजय नगर, दिल्ली-110009]

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विषयानुक्रमणिका

हिन्दी/संस्कृतम्

1. वेदों में भावात्मक देव: अदिति

—डा० श्रीमती बीना मिश्र 1

2. न्यायवैशेषिकदर्शने कर्मवादः

—डा०-उमा-रमण-झा: 21

3. आचार्य राजशेखर कृत ग्रंथों से सांस्कृतिक इतिहास का निर्माण

—डा० रामदयाल सिंह 31

4. प्राक्तन शिल्प कलायां गणपतेरङ्कनम्

—आचार्या मीरा डा०-कैलाशनाथ-द्विवेदी च 35

5. तत्त्व-चिन्तामणौ समवायवादः

—का०-ई०-धरणीधरः 39

6. सांख्यशास्त्रीया आधुनिकविज्ञानाभिमताः केचन सिद्धान्ताः

—डा०-सुद्युम्नाचार्यः 54

7. अलंकार-शास्त्रस्य व्याकरणादिशास्त्रान्तरैः सम्बन्धः

—डॉ०-के०-गायत्री देवी 59

8. विवाह एवं उत्तराधिकार के सन्दर्भ में कौटिलीय अर्थशास्त्र एवं स्मृतियों की दृष्टि : एक तुलनात्मक समीक्षा

—अभिराज डा० राजेन्द्र मिश्र 65

9. वैदिकवृषभ इन्द्रः

—डा०-शैलजा पाण्डेया 99

10. सूर्य की क्षति-पूर्ति

- डा० नागेन्द्र नागर 104

11. काश्मीरे संस्कृतम् (पूर्वतोऽनुवृत्तम्)

—दीनानाथ-यक्षः 107

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

English

1. *Literary Form and Alamkāras : A Note*

—Dr. M. V. Ramana 1

2. *Varṇa Āśrama System in the Vedas*

—Dr. C. L. Prabhakar 4

3. *A Calendar of Events in the Mahābhārata*

—Dr. Madhusudan Mishra 19

4. *Brief Communication: Roots with kṣ in Sanskrit*

—Dr. Madhusudan Mishra 25

5. *Specific Roots of Sanskrit*

—Dr. Madhusudan Mishra 27

6. *Early Foreign Words in Hindustani*

—Dr. Madhusudan Mishra 28

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वेदों में भावात्मक देवः अदिति

डॉ० श्रीमती बीना मिश्रा

ऋग्वेद-संहिता में आदित्यों को "अदिति के पुत्र"[1] कहा गया है। इस कथन से ही स्पष्ट हो जाता है कि अदिति की कल्पना आदित्यों की माता के रूप में की गई है और यह "अदिति" शब्द में ही अपत्यार्थक "ण्य"[2] प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। क्योंकि आदित्य प्रकाश की देवतायें हैं अतः उनकी माता के रूप में असीम प्रकाश की ही कल्पना की गई होगी, यह स्वभावतः अनुमान किया जा सकता है परन्तु अदिति शब्द ऋक्-संहिता में केवल आदित्य-माता अथवा सामान्यतः देवमाता का ही द्योतक नहीं है अपितु इसका प्रयोग भाववाचक संज्ञा के रूप में भी हुआ है और विशेषण के रूप में भी अतः देवता के रूप में अदिति की कल्पना का स्रोत ढूंढने के लिए हमें इन प्रयोगों की परीक्षा करनी होगी। अदिति के स्वरूप पर विचार करने के पूर्व हमें अदिति से सम्बन्धित "दिति" और "आदित्य" पर भी दृष्टि डालनी होगी। दिति, अदिति के विलोम रूप में एक सकारात्मक (Positive) शब्द प्रतीत होता है जिसके नकारात्मक (Negative) रूप में नञ् समास (Privative Compound) से निष्पन्न अदिति शब्द की सत्ता प्रतीत होती है। नञ् समास से निष्पन्न होने वाले नकारात्मक शब्दों से सम्बन्धित तत्त्वों की सत्ता पहले है अथवा सकारात्मक शब्दों से सम्बन्धित तत्त्वों की, इसमें सन्देह है। ऋग्वेद में ऐसे अनेक शब्द हैं जो नञ् समास से निष्पन्न हैं, जैसे:-असत्, अमृत, अनृत, आदि। ये सम्भवतः अपने सकारात्मक तत्त्वों के संस्थिति में आने के पूर्व

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

की सत्ता का द्योतन करते हैं। अतः "दिति" से पूर्व "अदिति" का होना संभाव्य है। अदिति के होने मात्र से दिति की कल्पना की गई और सृष्टि के द्वन्द्वात्मक स्वरूप में दिति और अदिति दोनो को स्थान प्राप्त हुआ। जहाँ एक ओर अदिति से आदित्यों की निष्पत्ति है वहीं दूसरी ओर दिति से दैत्यों की। जिस प्रकार से अदिति और दिति परस्पर विरोधी हैं वैसे ही आदित्य और दैत्य भी और यह विरोध मात्र शब्दों का नहीं वरन् सृष्टि की सत्तात्मक प्रक्रिया के द्विधा विभाजन का है और इसी द्विविधता ने सृष्टि के तमाम तत्त्वों में द्वैधीभाव की प्रक्रिया को जन्म दिया।

अदिति शब्द की निष्पत्ति, परम्परा और आधुनिकता दोनो के मध्य संदेह की स्थिति में आबद्ध है। परम्परागत निष्पत्ति में सर्वप्रथम यास्क द्वारा दी गई निष्पत्ति—"अदितिरदीना"[3]—इस शब्द को √दीङ् "क्षये" धातु से "क्तिन्" प्रत्यय से युक्त नञ् समास-सहित अदिति रूप में उपस्थित करती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो क्षय-रहित है, अविनाशी है, वह अदिति है। किन्तु यहाँ भाषा वैज्ञानिक आधार पर इस निष्पत्ति को स्वीकार करने में कठिनाई उत्पन्न होती है, क्योंकि √दीङ् धातु से ह्रस्व करके "दिति" बनाना बहुत कुछ उचित नहीं प्रतीत होता। सायण आदि अन्य आचार्यों ने अदिति की व्युत्पत्ति अ+√दो "अवखण्डने"+क्तिन् से की है और इस व्युत्पत्ति के अनुसार अदिति का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ –"अखण्डित", "अविभाजित", "सर्वव्यापी" आदि संभव है। सायण ने यास्क की निष्पत्ति √दीङ "क्षये" का समर्थन यह कहकर किया है कि

> "यास्कपक्षे तु "दीङ्क्षये" इत्यस्मात् क्तिन् व्यत्ययेन ह्रस्वत्वम् न समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्"[4]।

आधुनिक विद्वानों ने भी अदिति की निष्पत्ति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। बेर्गेन्ये[5] ने इसकी निष्पत्ति √दा (वर्तमान स्वरूप द्यति) "बाँधने" अर्थ में की है और इसके आधार पर अदिति का अर्थ "बन्धन-रहित", "असीमित" आदि किया है। हिलेब्रॉन्ट[6] ने अदिति संबंधी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

देवशास्त्र की चर्चा करते हुए ऋग्वेद 1.115.5 के आधार पर यह विचार किया कि अदिति किसी न किसी रूप में प्रकाश से ही संबंधित है और संभवत: दिवस के अविनश्वर प्रकाश को सूचित करता है। वैदिक साहित्य के कुछ अन्त:साक्ष्य भी अदिति की निष्पत्ति को समझाने में सहायक हैं। शतपथ-ब्राह्मण का यह कथन कि

"इयं वाऽ अदितिरियं होदं सर्वं ददते"[7]

अदिति के स्वरूप की ओर ही नहीं, अपितु पृथिवी संबंधी उसके तादात्म्य के अतिरिक्त उसकी निष्पत्ति में √दा "दाने" धातु की ओर भी संकेत करता है। शतपथ-ब्राह्मण में ही एक स्थान पर

"अथ वा दितिः खण्डनं नाशः तदभावाय[8]

कहा गया है जहाँ दिति के √दो "अवखण्डने" और √दीङ् "क्षये" (खण्डनं, नाश:) दोनो धातुओं से निष्पन्न होने का भाव प्रदर्शित किया गया है तथा शतपथ-ब्राह्मण में ही एक स्थल पर **"सर्वं वाऽ अत्तीति तददितेरदितित्वं"**[9] कहा गया है जिससे अदिति का √अद् "भक्षणे" धातु से निष्पन्न होना सिद्ध होता है। इस प्रकार अदिति के अन्तर्गत इन तीनो धातुओं-√दो √दीङ् और √अद्-के भाव सन्निहित प्रतीत होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों की निष्पत्तियाँ उसकी परोक्षात्मक प्रवृत्ति का अधिक द्योतन करती हैं, सही निष्पत्ति का कम, क्योंकि अदिति का वैदिक साहित्य में जो भी स्वरूप दृष्टिगत होता है उसमें न तो कहीं उसके दानशील गुणों की बात उभरती है और न ही उसके सर्वग्रासी होने की। अत: इन निष्पत्तियों को हम परिकल्पनात्मक मात्र ही मान सकते हैं; उन्हें हम भाषा-विज्ञान के किसी ठोस आधार पर प्रमाणित नहीं कर सकते। इस प्रकार जहाँ तक निष्पत्ति का प्रश्न है अदिति की समस्त अवधारणाओं को ध्यान में रखते हुए उसे हम √दीङ् "क्षये" से "छन्दसि बहुलं" सूत्र से √दिङ्+क्तिन् प्रत्यय से दिति तथा नञ् समास-सहित अदिति शब्द की निष्पत्ति अक्षय, अनन्त, अविनाशी आदि अर्थों में करेंगे। √दो "अवखण्डने" से **"द्यतिस्यतिमास्थामितिकिति"**

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(पा. सू.)[10] से "दिति" तथा नञ् समास से "अदिति" शब्द की निष्पत्ति अखण्डिता, अविभाजिता आदि अर्थों में करेंगे। इन दोनो निष्पत्तियों में जहाँ प्रथम निष्पत्ति अदिति की सर्वव्यापकता का द्योतन करती है वहीं द्वितीय पृथ्वी-स्वरूपा होने की ओर संकेत करती है, साथ ही ये दोनो निष्पत्तियाँ उसके अर्थ-विस्तार के विभिन्न पक्षों का संकेतन भी करती हैं।

अदिति शब्द मूलतः एक संज्ञा है जिसका अर्थ है—"बन्धन-राहित्य"। ऋग्वेद[11] के एक प्रसंग में शुनः शेप को उसके पिता से एक सहस्र गायों में क्रीत करके बाँधा गया है—

"शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्राद्"।

एक स्थान पर कवि कहता है—"कौन मुझे अदिति (मुक्ति) के हाथों में सौंपेगा जिससे मैं अपने माता-पिता को फिर से देख सकूं ?" (**को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च**")[12] श्रोदर तथा ओल्डेनबर्ग के मतानुसार देवी अदिति की धारणा इसी भाववाचक संज्ञा से विकसित हुई है[13]। संभवतः इसीलिए बन्धनों से छुटकारा दिलाने के लिए अदिति का इतना महत्त्व है, फलतः देवी के रूप में अदिति से प्रार्थना की गई है कि वह अपने उपासकों को बद्ध चोर की भांति बन्धनों से मुक्त कर दे।

"ते न श्रास्नो वृकाणामादित्यासो मुमोचत।
स्तेनं बद्धमिवादिते"[14] ॥

अदिति के ऋग्वैदिक स्वरूप में अन्य कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है, कोई भी सूक्त सम्पूर्ण रूप से अदिति की स्तुति में नहीं कहा गया है। कुछ प्रकीर्ण मन्त्रों में ही उसका उल्लेख मिलता है। अदिति की शारीरिक विशेषतायें ऋग्वेद में क्षोण मात्रा में हैं केवल अनर्वा"[15] "उरुव्यचा"[16] "उरुव्रजा"[17] "विश्वजन्या"[18] ज्योतिष्मतीम्"[19] आदि विशेषण ही उसके सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण हैं जिनके आधार पर उसके स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है। अदिति के स्वरूप के मूल

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आधार के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है, परन्तु लगभग सभी विद्वान् इससे सहमत हैं कि अदिति अपने मूल रूप में एक अमूर्त एवं भावात्मक देवी है तथा उसका प्रकृति के किसी भी तत्त्व से विशेष सम्बन्ध नहीं है। अदिति का मूल रूप असीम सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाली देवी के रूप में है। नेत्रों से जिस असीम सत्ता का हम दर्शन करते हैं उस को हम शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं कर सकते हैं किन्तु हमें उसका कोई न कोई नामकरण करना है। नामकरण को इसी भावना ने अदिति शब्द को जन्म दिया जो धरती के परे आकाश, बादल या अन्य पदार्थों को अक्षय, अविनाशी, अखण्डित रूप में व्यक्त करने में समर्थ हैं[20]। इसी अखण्डित भाव ने अदिति को आकाश और धरती के सामूहिक पर्याय के रूप में उपस्थित किया जो अदिति के द्विवचनान्त रूप "अदिते"[21] कहकर आकाश और पृथ्वी को सम्बन्धित करता है। यहां दोनो की सर्वव्यापकता तथा अखण्डनीयता अभिव्यक्त है इस प्रकार अदिति जहां पहले आकाश और पृथ्वी दोनो की वाचक है वहीं धीरे-धीरे वह पितृस्वरूप आकाश के पूरक के रूप में "माता अदिति:" बनकर हमारे समक्ष उपस्थित होती है, जिस बात की ओर बेर्गेन्ये[22] ने ऋ० 10.63.3 के आधार पर संकेत किया है। अब अदिति मात्र माता पृथ्वी के रूप में न रहकर "विश्वजन्या"[23] बन गई है।

अदिति की इसी मातृत्व की स्थिति ने धीरे-धीरे उसे देवमाता के रूप में उपस्थित किया और तभी वह आदित्यों की माता[24] के रूप में सुपुत्रा[25] हो गई। धीरे-धीरे वह मित्र, वरुण[26] की, भग[27] की माता बनी। इन्हीं के साथ वह सुपुत्रा[28] बन गई। उसे उग्रपुत्रा[29] कहा गया है। वह पुरुप्रिया भी है।[30] आदित्यगण अदिति के ही हैं।[31] अदिति आदित्यों के साथ हमारी रक्षक बने।[32]

इस प्रकार अदिति आकाश और धरती के अपरिमित, अविनाशी, अक्षय स्वरूप से हटकर पृथ्वी की वाचक बनी और उससे वह मातृस्वरूपा होकर एक नारी के विशिष्ट रूप में धीरे-धीरे केन्द्रित होने लगी। जहां प्रथमत: वह नितान्त भावात्मक रूप में व्यक्त हुई है वहीं धीरे-धीरे पृथ्वी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के पर्याय रूप में उसका एक विशिष्ट रूप उभरने लगा था, किन्तु जब वह देवमाता के रूप में परिणत होती है, उस स्थिति में उसका भावात्मक स्वरूप समाप्तप्राय सा प्रतीत होता है किन्तु इतने पर भी समस्त अभिव्यक्तियां मात्र नाम की हैं क्योंकि मातृस्वरूपा होकर भी सन्दर्भ में रूप संधारणाओं से संयुक्त नहीं होती है। कोई भी ऐसे सन्दर्भ नहीं मिलते जहां उसके शारीरिक रूप का ठोस प्रमाण मिल सके। मात्र उसके मुख के रूप में उषाओं का वर्णन है:

"अदितेरनीकं"[33] ।

किन्तु यह उषाओं का उसके अनीक रूप में वर्णन भी अदिति के विशाल संवेदनजन्य और भावात्मक रूप को ही अभिव्यक्त करता है। यह कुछ और नहीं, वैदिक ऋषियों की सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्तिमात्र है जहां उन्होंने सुन्दर उषाओं को अपार सृष्टि के रूप में उपस्थित अदिति के मुख सौन्दर्य को कल्पनात्मक ढंग से अभिव्यंजित किया है। इस प्रकार यहां अदिति के भावात्मक स्वरूप को ही हम अधिक देखते हैं, उस के स्थूल स्वरूप को कम।

ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे अदिति का विकास एक देवी के रूप में हुआ। जिस प्रकार से अन्य देवों ने अपना अलग-अलग अभिधान ग्रहण किया और उनका स्वरूप-निर्धारण होने लगा वैसे ही अदिति ने भी देवों के मध्य एक निश्चित स्थान बना लिया और एक विशिष्ट देवी के रूप में उसका आह्वान होने लगा। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में वह "देवी अदिति"[34] सम्बोधन ग्रहण करती है। इसी देवी के रूप में अदिति को ऋषियों ने अनेक विशिष्ट अभिधानों एवं विशेषणों से युक्त किया है; जैसे:—एक स्थान पर उसे "अनर्वा" कहा गया है:

देव्यदितिरनर्वा ।[35]

जो उसके शत्रुराहित्य का द्योतक है। दूसरे सन्दर्भ में वह "पस्त्या" (पस्त्यामदिति) कही गई है जिससे उसका सम्बन्ध गृह, शरण-स्थल आदि

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के साथ संयुक्त है, "सुशर्माणम्"[36] विशेषण के साथ वह पृथिवी, आकाश आदि के रूप में वर्णित है, संभवतः उसके पृथ्वी-स्वरूपा होने का भावात्मक रूप ही यहां व्यक्त किया गया है। ऋग्वेद पंचम मंडल में वह "उरुव्यचा"[37] कही गई है जिससे उसका सर्वव्यापी स्वरूप दिग्दर्शित होता है। इसी प्रकार उसके दूसरे विशेषण "सर्वतातिम्"[38] और "विश्वजन्याम्"[39] हैं जो उसकी व्यापकता की ओर संकेत करते हैं।

अदिति "ऋतावरी" है, क्योंकि उसका सम्बन्ध ऋत् के साथ है जिसके माध्यम से वह इस धरती को उत्पन्न करने वाली कही गई है: "महीम् जजान" और इसीलिए वह सब कुछ जानने वाली और सबको अपने अन्तर्गत समाहित करने वाली महान् देवत्व की उत्पत्ति के लिए मातृस्वरूपा है। इस प्रकार अदिति का यह "ऋतावरी" विशेषण उसे एक ऐसी स्थिति में उपस्थित करता है जहाँ वह "जगन्नियन्त्री" कही जा सकती है। उसके इसी स्वरूप ने उसे "पुरुप्रिया"[40] (बहुतों की प्रिय) के रूप में उपस्थित किया है।

अदिति के स्वरूप का निर्धारण मात्र उस तक सीमित कल्पनाओं के आधार पर ही नहीं किया जा सकता वरन् अन्य देवताओं के साथ उसके सम्बन्धों का आकलन भी आवश्यक है। इसके पूर्व हमने अदिति सम्बन्धी परिकल्पनाओं को आकाश और पृथ्वी की अनन्त सीमाओं में आबद्ध रूप में देखा है, इसलिए प्रथमतः पिता द्यौ तथा माता पृथ्वी के साथ उसके सम्बन्धों की चर्चा कर लेना वांछित होगा।

ऋग्वेद के एक मंत्र में "द्यौरदिति"[41] कहा गया है जिससे द्यौ को अदिति के रूप में देखने की कल्पना विकसित हुई और इसी ने अवान्तरकाल में "अदितिर्द्यौ...[42]" की कल्पना को साकार किया। इस प्रकार देवशास्त्र की विकासात्मक प्रक्रिया से जहां प्रथमतः आकाश का तादात्म्य अदिति के साथ उपस्थित होता था वहीं धीरे-धीरे अदिति ही आकाश रूप में उपस्थित की जाने लगी। इसी प्रकार वह अदिति पृथ्वी के साथ भी सम्बन्धित की गई और धीरे-धीरे पृथ्वी की पर्याय बन गई। उसका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अखण्डिता होने का भाव प्रायः पृथ्वी के साथ ही जुड़ा हुआ है। ऐसे मंत्रों में जहां अदिति के साथ सिन्धु, पृथ्वी, आदि देवता अपने-अपने नाम सहित पृथक्-पृथक् रूप में आहूत हैं, जैसेः—

"तन्नो मित्रो वरुणो..."[43]

तो अदिति पृथ्वी, आकाश आदि से भिन्न है किन्तु जहां किसी देवता विशेष का नाम नहीं लिया गया है; जैसेः—

"अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु ..."[44]

और अदिति अकेले ही देवी के रूप में प्रतिष्ठित है। वहां हम उसे पृथ्वी के वाचक के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। ऐसे अनेक मंत्र हैं जिनमें अदिति को किसी देवता-विशेष के साथ जोड़ना या उसका तादात्म्य उपस्थित करना कठिन है। उन स्थितियों में अदिति का तादात्म्य किसी न किसी देवी के साथ उपस्थित करना आवश्यक हो जाता है और उनमें इसका अधिकतम सामीप्य पृथ्वी के साथ ही बैठता है। अदिति-सम्बन्धी सभी सन्दर्भों को अच्छी प्रकार व्याख्या करने के पश्चात् ही हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि कहाँ वह देवी के रूप में पृथ्वी की वाचक है और कहाँ नहीं, क्योंकि इसके विभिन्न रूपों में उसका देवमातृत्व-स्वरूप भी जुड़ा हुआ है जो सदा पापों से रक्षा करता है।[45]

ऋग्वेद के अनेक ऐसे संदर्भ हैं जहां अदिति और पृथ्वी दोनो शब्दों का प्रयोग एक साथ हुआ है। वहां यह कहने में कठिनाई हो सकती है कि अदिति और पृथ्वी अलग-अलग हैं अथवा एक दूसरे के पर्याय हैं। किन्तु ध्यान देने पर यह पता चलता है कि मंत्र के एक पाद में अदिति का प्रयोग और उसके समानान्तर दूसरे पाद में पृथ्वी का प्रयोग मात्र एक दूसरे का पूरक है और अदिति वहां पृथ्वी रूप में ही वर्तमान है; किसी अन्य देवी के रूप में नहीं, जैसेः—

"मह्ना महद्भिः पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदिति-धायसे वेः"[46]

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(पृथ्वी अपनी महत्ता के द्वारा अनेक महान् देवताओं के साथ प्रतिष्ठित है और वह मातृस्वरूपा अदिति के रूप में अपने पुत्रों के द्वारा धारण की जाती है।)

इस प्रकार पृथिवी यहाँ अदिति के रूप में ही प्रतिष्ठित है। ऐसे ही अन्य अनेक सन्दर्भों में पृथ्वी का अदिति के साथ अथवा अदिति का पृथ्वी के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है[47]। भिन्नता के भी सन्दर्भ हैं जहाँ पृथिवी, अदिति और द्यौ की चर्चा एक साथ है और अदिति एक व्यष्टि के रूप में उपस्थित की गई है। ऐसे सन्दर्भों में निश्चय ही वह पृथ्वी से भिन्न है[48]।

अदिति के इसी विकासात्मक रूप में हम उसके आकाश और पृथ्वी से अलग-अलग होने वाले रूप को देखते हैं जहाँ वह न तो किसी का विशेषण है और न किसी का पर्याय अपितु एक स्वतन्त्र देवी के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होती है। ऋग्वेद के अवान्तरकालीन अंशों में ऐसे सन्दर्भों की संख्या अधिक है। ऐसी ही स्थिति में अदिति नितान्त रूप से "देवमाता" का स्थान ग्रहण करती है और "विश्वेदेवा:"[49] के साथ उसे प्रतिष्ठा मिलती है। इन सन्दर्भों में हम उसके भावात्मक व्यक्तित्व की अधिक गहराई से खोज कर सकते हैं। यद्यपि अदिति से आदित्यों की कल्पना ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों से ही अपना नैरन्तर्य बनाए हुए है किन्तु अदिति का देव-मातृत्व जितना बाद के काल में स्पष्ट होता है उतना पहले नहीं। ऋग्वेद के दशम मण्डल में अदिति से दक्ष तथा दक्ष से अदिति का उत्पन्न होना कहा गया है।[50] उसी अदिति से अमृतबन्धु आदित्य उत्पन्न हुए।[51] प्रथम, अष्टम तथा दशम मण्डल में कई बार उसे आदित्यों की माता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है[52]। इस प्रकार अदिति का देवताओं के साथ जो सम्बन्ध है वह प्रथमत: आदित्य के साथ जोड़ा गया है और धीरे-धीरे अन्य देवों के साथ। उसके सम्बन्धों की हम यहां समीक्षा कर सकते हैं। अदिति का सीधा सम्बन्ध आदित्यों से है। इन आदित्य गणों के अन्तर्गत सूर्य प्रथम देवता हैं जिनके साथ मित्र,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वरुण, अर्यमन् आदि भी संलग्न हैं अतः अदिति के सन्दर्भ में इन सभी का सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक है। सूर्य के साथ उसका सीधा सम्बन्ध यह है कि सूर्य के प्रसव काल में, उदित होने पर और मध्यकाल में अदिति का आह्वान किया गया है[53]। जहां तक वरुण का सम्बन्ध है वह अदिति के पुत्र रूप में है और यही नहीं उसके साथ मित्र तथा अर्यमन् भी पुत्र रूप में कहे गए हैं—

"माता मित्रस्य वरुणस्य रेवतुः"[54]

(अदिति मित्र, वरुण तथा सूर्य की मां है) यहां "रेवत" शब्द को व्याख्याकारों ने विशेषण रूप में माना है किन्तु इसे "प्रकाशवान्"[55] अर्थ में ग्रहण करने पर सूर्य रूप माना जा सकता है।

जॉनसन[56] (Johansson) ने अदिति को वरुण की पत्नी के रूप में मानने की संभावना व्यक्त की है, किन्तु ऋग्वेद के किसी सन्दर्भ से इस का साक्ष्य नहीं उपस्थित किया जा सकता अतः हम जॉनसन के विचारों से सहमत नहीं हैं। इसी प्रकार हम प्रिजुलुस्की (Pryzuluski)[57] के विचारों से भी सहमत नहीं हो सकते जिन्होंने अदिति को आर्येतर जातियों के द्वारा पूजित मातृदेवी के आधार पर आर्यों द्वारा ग्रहण की गई मातृ सम्बन्धी संधारणा के रूप में स्वीकार किया है और न ही उनके इस विचार का कोई साक्ष्य है कि अश्विनौ जिन्हें "मधुक्षाः" कहा गया है, दो घुड़सवारों के रूप में अदिति के पार्श्व में प्रतिष्ठित हैं। अश्विनों का "मधुक्षा" विशेषण उनके "माध्वी" नाम के साथ वैदिक सोम-सवन से जुड़ा हुआ है और ऋग्वैदिक परम्परा में ये दोनो देवता सोम से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। अदिति-सम्बन्धी कल्पना आर्यों की अपनी वृहत् दृष्टि का परिणाम है जिसके अन्तर्गत समस्त विश्व को समाहित कर एक निश्चित देवशास्त्रीय विचारधारा प्रदान की गई है। ऋग्वेद में एक सन्दर्भ में वरुण को अदिति का पुत्र कहा गया है जो तीन पादक्रमों से समस्त पृथ्वी पर प्रथित होता है अथवा समस्त भूमा का विस्तार करता है। यहां उसके तीन पादक्रम विष्णु के स्वरूप की ओर इंगित करते हैं जो

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अपनी व्यापकता के लिए प्रसिद्ध है। मित्र और वरुण के इसी सम्बन्ध के कारण अदिति को उनके नियम (ऋत) की स्वामिनी[58] के रूप में भी उपस्थित किया गया है।

इस सन्दर्भ में हम अदिति के प्रथम सात पुत्रों[59] की और उनके पश्चात् अष्टम पुत्र[60] के रूप में "मार्तण्ड" की चर्चा कर सकते हैं। यदि हम इस आठ के समूह को वसुगणों के रूप में स्वीकार करें तो कोई असंगति नहीं होगी। इसी सन्दर्भ में अदिति को दक्ष की पुत्री भी कहा गया है और साथ ही दक्ष को अदिति से उत्पन्न भी कहा गया है।[61]

इस विरोधाभास (अदिति से दक्ष उत्पन्न हुए और दक्ष से अदिति) के प्रसंग में हमारा ध्यान ऋग्वेद के 10.90.5 के मंत्र में जाता है जहां पुरुष से विराज् और विराज् से फिर पुरुष उत्पन्न हुआ। ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक स्थान पर "दक्ष को सृष्टि के आदि में विद्यमान परम तत्त्व" कहा गया है। वह एक ऐसा तत्त्व था जो न होता हुआ भी अपनी शक्तिमत्ता से अदिति की गोद में अवस्थित था :

"असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे[62]"

यद्यपि अदिति और दक्ष की परस्पर एक दूसरे से उत्पत्ति कही गई है किन्तु ऋ. 10.72.5 का यह मंत्र जिसमें दक्ष को अदिति का पिता कहा गया है:

"अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव"

इससे प्रतीत होता है कि अदिति और दक्ष के पारस्परिक जनक होने की कल्पना की अपेक्षा दक्ष का पितृत्व ही अधिक प्रचलित था। ऋग्वेद के प्राचीन मंत्र (2.27.1) में केवल छः आदित्य (अदिति-पुत्र) बताए गए हैं। इनमें दक्ष का नाम भी परिगणित है किन्तु धीरे-धीरे अदिति-पिता के रूप में प्रतिष्ठित होने पर दक्ष का नाम इस सूची से निकल गया। ब्राह्मणों में यद्यपि आठ आदित्यों का उल्लेख है किन्तु दक्ष का नाम यहां नहीं है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अदिति का सम्बन्ध सोम से सीधा न होकर परोक्ष रूप में प्रतीत होता है। अदिति से जल अथवा ओषधियों की उत्पत्ति और उन ओषधियों से सोम की उत्पत्ति अदिति के साथ सोम के सम्बन्ध को स्थापित करती है। अदिति सोम के जनक के रूप में ऋग्वेद 8.12.14 में आती है, जबकि वह इन्द्र के लिए सोम को उत्पन्न करती है।

पार्थिव सोम पृथ्वी का सर्वोत्कृष्ट पेय है। ऋग्वेद 9.96.15 में सोम को अदिति (रूपी गौ) का दुग्ध कहा गया है:

"एषस्य सोमो मतिभिः पुनानो"......

पयो न दुग्धमदितेरिषिरम्"...... ।

ऋग्वेद 9.69.3 में सोम से सम्बन्धित अदिति की एक नप्त्री का उल्लेख किया गया है। मैक्डॉनल के अनुसार संभवतः यह दुग्ध को सूचित करती है[63]।

अदिति की "पर्जन्य" (Rain cloud) के रूप में भी कल्पना की गई है। "पृष्णि" (पर्जन्य-जननी) के साथ अदिति की एकता प्रदर्शित की गई है, यह एकता पृष्णि-पुत्र मरुतों और रुद्रों के अदिति के साथ सम्बन्ध के कारण है।

अदिति का साम्य "गन्धर्वी" से भी बताया गया है जो जल की पत्नी के रूप में पर्जन्यों का प्रतिनिधित्व करती है।

जब हम अदिति से की गई प्रार्थनाओं पर ध्यान देते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि अदिति न तो आकाश है और न पृथ्वी वरन् वह अपनी सम्पूर्णता में एक ऐसी महनीय शक्ति है जो हमारी समस्त कामनाओं को पूर्ण कर हमें सभी प्रकार के दुःखों से बचा सकती है तथा हमारे सभी पापों का आहरण कर सकती है। ऐसी स्थिति में उसकी सर्व-शक्तिमत्ता ऋग्वेद के किसी भी बड़े देवता से कम नहीं प्रतीत होती। जहां हम एक ओर अग्नि, इन्द्र, मरुत्, मित्र आदित्य इत्यादि को सर्वशक्तिमान् रूप में प्रतिष्ठित पाते हैं और उनसे अनेक प्रकार की कामनायें करते हैं, वहीं अदिति भी उन्हीं के साथ अथवा पृथक् रूप में उन्हीं के समान सर्वशक्ति-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सम्पन्न प्रतीत होती है और ऐसी स्थिति में उसका अपना देवत्व पूर्णरूप से निखरता प्रतीत होता है जिससे उसके देवत्व की कल्पना और अधिक विकसित होकर उसके परवर्ती रूपों को हमारे समक्ष एक मुख्य देवी के रूप में उपस्थित करती है। इन्हीं प्रार्थनाओं के अन्तर्गत हम अदिति के विभिन्न रूपों में विकसित कृतित्व का निरीक्षण भी कर सकते हैं।

अदिति अपने पुत्रों-आदित्यों-को ईर्ष्या और उपद्रवों आदि बाधाओं से बचाती है।[64] बाधाओं से उन्हें त्राण दिलाती है।[65] उन्हें सुखी जीवन व्यतीत करने के लिये आश्रय प्रदान करती है।[66] अपने पुत्रों के साथ समवेत रूप में उन से दीर्घ जीवन[67], सुख,[68] कल्याण[69] दान[70], पाप से मुक्ति[71] की कामना की गई है। विशेष रूप से वेदों में ऐसे स्थलों का बाहुल्य है जहां अदिति की रक्षा प्रदान करने के लिये आहूत किया गया है।[72] अदिति से विजय की कामना तथा कष्ट से होने वाली हानियों से बचने की भी कामना की गई है।[73] मनुष्य की पाप से मुक्ति[74] अथवा उससे दूर सुरक्षित रखने के लिये अदिति से प्रार्थना की गई है।[75] मनुष्य अपने सुखद निवास-स्थान के लिये आदित्यों के साथ उनसे प्रार्थना करता है।[76] ऐसी प्रार्थना की गई है कि अदिति देवी आयु की रक्षा करें,[77] रोगों को दूर करें[78] तथा अदिति की गोद में रहकर मनुष्य सौ वर्ष जीवन व्यतीत करे:

"यशाः पृथिव्या अदित्या उपस्थे"[79]

यजुर्वेद में अदिति के लिये सजोषाः[80], उरुची[81], सुशर्माम्[82], सुप्रणीतिम्[83] विश्वदेव्यावती,[84] विश्वधाया[85] आदि विशेषण प्रयुक्त हैं। यहां भी वह पृथ्वी की समानार्थक[86] तो कभी पृथक् अस्तित्व वाली प्रतीत होती है।[87] अदिति का मातृ-स्वरूप यहां भी स्पष्ट है। उसके प्रातर्जित[88], भग[89], उग्र[90] पुत्र मर्त्यों के जीवनदाता तथा अजस्र ज्योति के प्रदाता हैं।[91]

वह अन्तरिक्ष की धारक है,[92] परम-व्योम में लोगों के लिये घृत का दोहन करने वाली है तथा समस्त भुवन की धारक है।[93] अदिति का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उल्लेख निर्ऋत के साथ है।[94] दिति के साथ अदिति का उल्लेख ऋग्वेद की अपेक्षा यजुर्वेद में अधिक हुआ है जहां वह दिति के साथ यज्ञ में आहूत की गई है।[95]

अदिति का स्थान समस्त यज्ञियों में प्रमुख है।[96] वही पृथ्वी का नाभि है जिसके नाभिस्वरूपा यज्ञवेदि में हव्य की रक्षा की जाती है।[97]

अदिति अन्य देवों के साथ कल्याण की प्रदात्री है।[98]

अदिति और दिति

अदिति का एक अन्य देवी अथवा मूर्तीकरण द्वारा, दिति के साथ उल्लेख है जो अपने नाम के शब्द-विन्यास के द्वारा अदिति की विरोधी अथवा अदिति की पूरक प्रतीत होती है। "दिति" का प्रयोग ऋक् संहिता में तीन स्थलों पर हुआ है:

"राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य"[99]

"आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च[100]।

"त्वमग्ने वीरवद् यशो देवश्च सविता भगः। दितिश्च दाति वार्यम्"[101]।

इनमें से प्रथम दो उद्धरणों में "दिति" और "अदिति" पद एक साथ आये हैं और निश्चित ही "सीमित" और "निस्सीम" अथवा "बन्धन" और "स्वतंत्रता" के अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं। प्रथम उद्धरण में सायण "दिति" से "उदार मनुष्य" और "अदिति" से "अनुदार मनुष्य" अर्थ ग्रहण करते हैं, जब कि रॉथ इनका क्रमशः "सम्पत्ति" और "विपन्नता" अनुवाद करते हैं। तीसरे उद्धरण में "दिति" का उल्लेख "सावित्री" और "भग" के साथ हुआ है और इससे प्रतीत होता है कि यह भी देवता के रूप में कल्पित है परन्तु यहाँ भी इसका अर्थ "सीमित भौतिक समृद्धि" प्रदान करने वाली देवी के रूप में संगत हो जाता है। दिति का अदिति के साथ एक देवी के रूप में अवेस्ता[102] और वाजसनेयि-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संहिता [103] तथा कठ संहिता[104] में भी उल्लेख है। अदिति के आठ पुत्रों का उल्लेख है।[105] ये पुत्र-दैत्यगण-बाद के भारतीय पुरा कथाशास्त्र में देवों के शत्रु माने गये हैं। अथर्ववेद में दिति के पुत्रों का उल्लेख है जो देवों के शत्रु हैं:

"दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम्[106]

जे. म्यूर, दिति को अदिति से सम्बद्ध एक ऐसी देवी मानते हैं जिसकी कोई निश्चित धारणा नहीं है और केवल अदिति से इसका एक विभेद-मात्र है। फिर भी, अदिति यहां आकाश को तथा दिति पृथ्वी को व्यक्त कर सकती है; अथवा यदि हम प्रस्तुत ऋचा (ऋ. 5.62.8) को ठीक से समझ सकें तो इसमें मित्र और वरुण के दो स्पष्ट वर्णन हैं: एक सूर्योदय के समय का और एक सूर्यास्त का। अदिति संभवतः उस सम्पूर्ण प्रकृति की द्योतक हो सकती है जो दिन के समय दिखाई पड़ती है और दिति उस सृष्टि की जो रात के समय दिखाई देती है।[107]

अथर्ववेद तक आते-आते अदिति के स्वरूप में परिवर्तन और परम्परा का सतत प्रवाह परिलक्षित होता है। जहाँ एक ओर ऋग्वेदीय परम्परा में पितृस्वरूप द्यौः के साथ वह मातस्वरूपा पृथिवी होकर अपनी गोद में समस्त प्राणियों को धारण करती है[108], सबको सुख प्रदान करती है[109] और सुपुत्रा[110] होकर लोगों को ऐश्वर्य प्रदान करती है, वहीं "पुत्रकामा" के रूप में अहोरात्रि की वाचक बनती है और "गन्धर्वी" रूप में प्रतिष्ठित धेनु के साथ अपना तादात्म्य उपस्थित करती है।[111]

अथर्ववेद में ऋग्वेद की परम्परा से हटकर ब्राह्मण-ग्रन्थों की परम्परा में दिति का तादात्म्य "सुवा", "सूर्यं" आदि के साथ उपस्थित किया गया है तथा अदिति शूर्पग्राही है।[112] वह समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली और समस्त सृष्टि को अपने अन्तर्गत निहित करने वाली कही गई है:

"त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा..."[113]

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ऋग्वेद में जहां अदिति की चर्चा अकेले है वहीं अथर्ववेद में उसके पूरक के रूप में अथवा उसके विरोधात्मक रूप में "दिति" की चर्चा बार-बार की गई है[114] और एक स्थान पर दोनो को "कश्यप" की भार्या के रूप में कहा गया है[115]। इस प्रकार अथर्ववेद तक आते-आते अदिति पृथ्वी की पर्याय रूप में परिणत होती प्रतीत होती है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में अदिति प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो रूपों में अपना स्वरूप ग्रहण करती है। उसका प्रत्यक्ष रूप संहिताओं की परम्परा से जुड़ा हुआ है जहां उसे देवमाता या आदित्यगणों की माता के रूप में कहा गया है। ब्राह्मणों में ऐसे बहुत से सन्दर्भ मिल जायेंगे जहां उसे आदित्यों की माता के रूप में उपस्थित किया गया है। वह आठ पुत्रों की मां कही गई है[116]। परोक्ष कथनों में अदिति को पृथ्वी,[117] वाक्,[118] यज्ञ,[119] वेदि,[120] दृषदुपल,[121] उलूखल,[122] आदि के साथ तादात्म्य उपस्थित करते हुए वर्णित किया गया है। यही नहीं धेनु,[123] गौ,[124] सिनीवाली[125] आदि के साथ भी उसका तादात्म्य उपस्थित किया गया है। इस प्रकार अदिति यहां विभिन्न रूपों में प्रतीत होती है किन्तु समस्त यज्ञ-सन्दर्भों में वह अखण्डनोया धरती या उसके किसी न किसी रूप से सम्बद्ध है। ऋग्वेद में जहां वह देवपत्नियों (ग्नाभिः) के साथ वर्णित है वहीं ब्राह्मणों में भी वह स्वयं देवपत्नी के रूप में उपस्थित की गई है[126]। इस प्रकार वैदिक कालीन अदिति, जिसका जन्म आकाश की अनन्तता से हुआ था, वैदिक युग में काल और सोमा से रहित एक अनन्त शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित रही। ऐसी स्थिति में वह अमृतपुत्र देवों की जननी बनी और उसका मातृत्वपक्ष उभर कर सामने आया।

सन्दर्भ—

1. ऋ. 8.18.5; 10.185.3
2. सिद्धान्त-कौमुदी-"अपत्याधिकार-प्रकरण —
   सूत्र—"दित्यादित्यादित्यपत्युत्तर-पदाण्ण्यः" 4.1.85
3. निरुक्त 4.4.1

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

4. ऋ. 1.89.10 पर सायण भाष्य ।
5. एवेल वेर्गेन्ये "लैरेलिजन वैंदिके" का अंग्रेजी अनुवाद "वैदिक रिलिजन" अनुवादक वी. जी. परान्जपे, तृतीय भाग, पृष्ठ92 ।
6. द्रष्टव्य हिल्लेब्रॉण्ट, "वेदिशे मिथोलोगी" भाग दूसरा : पृष्ठ 97 तथा आगे ।
7. श. ब्रा. 7.4.2.7
8. श. ब्रा. 1.5.1.17
9. श. ब्रा. 10.6.5.5.
10. पा. सू. 7.4.40 "एषामिकारोऽन्तादेशः स्यात्तादौ किति, दितः दितिः" ।
11. ऋग्वेद 5.2.7
12. ऋग्वेद 1.24.1
13. देखिये-ओल्डेनबर्गः—"रेलीगियोन् डेस वेद "पृ. 202 तथा फॉन श्रोदर" "डी आरिशे रेलीगियोन्" भाग 2; पू. 400 ।
14. ऋ. 8.67.14
15. ऋ. 2.40.1
16. ऋ. 5.46.6
17. ऋ. 8.67.12
18. ऋ. 7.10.40
19. ऋ. 1.136.3
20. द्रष्टव्य मैं. म्यू. "वैदिक हिम्न्स" "सैक्रेड् बुक ऑफ द ईस्ट" 32, 241, तुलना "मैक्स.मूलर्स लैक्चर्स ऑन द साइन्स ऑफ लैंगुएज" (संस्करण 1891) 2.619; हॉपकिन्स, जेएओएस 16, 91 मैक्डोनेल-वै. भा. पृ. 123 ।
21. ऋ. 4.55.1; 7.62.4
22. द्रष्टव्य बेर्गेन्ये "ल रेलिजन वेदिक" का अंग्रेजी अनुवाद "वेदिक रिलिजन"; अनुवादक बी. जी. परान्जपे; तृतीय भाग; पुष्ठ 90 ।
23. ऋ. 7.10.14 "विश्वजन्यां अदितिं......"
24. ऋ. 2.28.3 "यूयं न पुत्रा अदितेरदब्धा ।
25. ऋ. 3.4.11; 7.2.11
26. ऋ. 8.25.3
27. ऋ. 7.41.2 "प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
28. ऋ. 3.4.11 बर्हिनि आस्तामदितिः सुपुत्रा ।
29. ऋ. 8.67.11 पर्षि दीने गभीर आँ उग्रपुत्रे जिघांसतः ।
30. ऋ. 8.18.4 देवेभिर्देव्यदितेऽरिष्टभर्मन्ना गहि स्मत् सूरिभिः पुरुप्रिये सुशर्मभिः ।
31. ऋ. 7.52 आदित्यासो अदितयः स्याम ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

32. ऋ. 7.51 आदित्यासो अदितिर्मादयन्तां मित्रो अर्यमा वरुणो रजिष्ठाः। अस्माकं सन्तु भुवनस्य गोपाः ।।
33. ऋ. 1.113.19
34. ऋ. 1.106.7 (देव्यदिति); 2.40.6; 4.55.3 (सख्याम् देवीम्) 5.69.3 (देवीमदितिं) ; 6.50.1; 7.38.4; 7.402; 8.47.9
35. ऋ. 2.4.6
36. ऋ. 10.63.10 (सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्) ।
37. ऋ. 5.46. 6 उरुव्यचा अदितिः श्रोतु मे हवम् ।
38. ऋ. 10.100. 1-12 सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ।
39. ऋ. 7.10.4
40. ऋ. 8.18.4 देवेभिर्देव्यदिते......पुरुप्रिये सुशर्मभिः ।
41. ऋ. 5.59.8
42. ऋ. 1.89.10
43. ऋ. 1.112.25;1.111.5
44. ऋ. 1.162.22
45. ऋ. 8.18.7 । यह मंत्र देवी अदिति को सम्बोधित है—"अदितिर्नो दिवा पशुमदितिर्नक्तमद्वयाः । अदितिः पात्वंहसः सदावृधा ।।"
46. ऋ. 1.72.9
47. ऋ. 10.63.2
48. ऋ. 10.66.4 अदितिर्द्यावापृथिवी...
49. ऋ. 1.89.10; 10.63.2;3; 1.106.1
50. ऋ. 10.72.4 अदितेर्दक्षो अजामत दक्षाद्वदितिः परि ।
51. ऋ. 10.72.5 तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ।
52. ऋ. 1.72.9; 8.25.3;47.9; 10.36.3; 10.132.6
53. ऋ. 7.60.1
54. ऋ. 10.36.3; 8.47.9 (थोड़े क्रम-परिवर्तन के साथ)
55. ऋ. 10.36.3 (सायण भाष्य)
56. द्रष्टव्य-आर. एन. दाण्डेकर "वैदिक माइथोलोजिकल ट्रैक्ट्स", सेलेक्ट राइटिंग्स प्रथम, 1979 पृ. 39-40 (फुट नोट)
57. द्रष्टव्य-आर. एन. दाण्डेकर, "वैदिक माइथोलोजिकल ट्रैक्ट्स", सेलेक्ट राइंटिंग्स, 1979 पृ० 272
58. ऋ. 7.66.6 उत स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये । महो राजान ईशते ।
59. ऋ. 10.72.9 सप्तभिः पुत्रैरदितिरूप प्रैत् पूर्व्यं युगम् ।
60. ऋ. 10.72.8 अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्व स्परि ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

61. ऋ. 10.72.4
62. ऋ. 10.5.7
63. मैक्डॉनल, वै. मा. पृ० 122
64. ऋ. 8.47.9 अदितिर्न उरुष्यत्व दितिः शर्म यच्छतु ।
65. ऋ. 8.18.5
66. ऋ. 8.47.4; 8.83.5
67. ऋ. 1.94.16 अस्माकमायुः प्र तिरेह देव ।
68. ऋ. 5.51.11, 7.35.9
69. ऋ. 2.29.3, 5.51.14, 6.51.11
70. ऋ. 5.49.3
71. ऋ. 2.27.14
72. ऋ. 4.54.6, 55.1, 6.75, 12, 17, 10.66. 2-3
73. ऋ. 8.67.10
74. ऋ. 1.162.12
75. ऋ. 8.47.9
76. ऋ. 6.51.4
77. ऋ. 1.94.16
78. ऋ. 1.43.2
79. अथर्व. 13.1.38
80. शु० यजु. 29.4
81. ,, यजु. 21.5.6
82. ,, यजु. 21.5, 6
83. ,, यजु. 21. 5, 6
84. ,, यजु. 11.61
85. ,, यजु. 13.18
86. शु यजु. 13. 18
87. ,, यजु. 18.2
88. ,, यजु. 34. 35
89. ,, यजु. 34. 35
90. ,, यजु. 34. 35
91. ,, यजु. 3. 33
92. ,, यजु. 14. 5
93. ,, यजु. 13. 18
94. ,, यजु. 25. 2

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

95. ,, यजु. 18.2
96. ,, यजु. 33. 16
97. ,, यजु. 1. 11
98. ,, यजु. 29. 49;17.48
99. ऋ. 4. 2. 11
100. ऋ. 5.62.8
101. ऋ. 7.15.12
102. अवेस्ता 15.6.7
103. वाज-संहिता 10.16 (ततश्चक्षाताम् अदिर्ति दिर्ति च); 18.22
104. कठ-संहिता 28. 11
105. अथर्व. 8.9,21 अदितिरष्ट पुत्रा
106. अथर्व. 7.7.1
107. द्रष्टव्य जे. म्यूर. "ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट" का हिन्दी अनुवाद, अनुवादक रामकुमार राय, भाग पांच; पृष्ठ 47-48
108. अथर्व. 2.28.4 6. 120.2
109. अथर्व. 2.28.5
110. अथर्व. 3.8.2; 11.1.11
111. अथर्व. 15.18.4; 18,1.19; 18.4.30
112. अथर्व. 11.3.4 अदितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही
113. अथर्व. 12.1.61
114. अथर्व. 15.6.20; 21
115. अथर्व. 7.8.1
116. शतपथ ब्रा. 3.1.3.3 "अष्टौ ह वै पुत्रा अदितेः ।"
117. शतपथ ब्रा. 3.3.1.4; 5.1.4.4; 5.3.1.4; 5.3.5.37; 6.5.4.2 इत्यादि ।
118. शतपथ ब्रा. 4.5.1.4; 4.5.8. 10; 6.5.2.20
119. शतपथ ब्रा. 11.1.3.4; 4.5.1.2; 3.2.4.16; 4.1.2.6
120. शतपथ ब्रा. 12.9.2.11
121. शतपथ ब्रा. 1.2.1.14; 1.2.1.15
122 शतपथ ब्रा. 1.1.4.7
123. शतपथ ब्रा. 12.9.2.11
124. शतपथ ब्रा. 12.9.2.11; 2.3.4.34; 14.2.1.7
125. शतपथ ब्रा. 6.5.1.10
126. शतपथ ब्रा. 1.3.1.17; 1.3.1.15

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न्यायवैशेषिकदर्शने कर्मवादः

डॉ० उमारमण झा

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥

कर्मवादो दार्शनिकानां प्रमुखो विषयः। कर्मकाण्डप्रधाने पूर्वमीमांसादर्शनेऽपूर्वरूपकर्मणो विस्तरेण विवेचनं दृश्यते। 'कर्मेति मीमांसका' इति वचनानुसारं कर्मैवेश्वरवत्सर्वं सम्पादयतीति मीमांसकानामभिप्रायः। वेदान्तदर्शने कर्मणः प्राबल्यं सर्वतो भावेन मान्यं भवति। सांख्ययोगयोः कर्मवादस्तु गीतायां विस्तरेण प्रतिपादितः। अत्र मया संक्षेपेण न्यायवैशेषिकदर्शनदृष्ट्या कर्मवादो विचार्यते।

सर्वप्रथमं किं कर्मेति विषये वैशेषिकदर्शनसूत्रकारः कणादो लिखति

"एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्[1]।"

अर्थात् कर्मैकस्मिन्नेव द्रव्ये तिष्ठति तदगुणं संयोगविभागेषु च प्रत्यक्षकारणं भवति। एक द्रव्यमगुणमित्यवयविद्रव्यवारणाय संयोगादिगुणवारणाय चोक्तम्। संयोगेत्यादि तु संयोगासमवायिकारणमित्यनेन समानार्थकं भवति।

शिवादित्यमिश्रः सप्तपदार्थीग्रन्थे लिखति कर्म कर्मत्वजातियोग्याढ्यसंयोगविभागयोरसमवायिकारणञ्चेति।[2]

तर्कसंग्रहदीपिकायां कर्मत्वजातिमत्वं कर्मत्वमित्युक्तम्। कर्मत्वजातिश्च धावति चलतीत्यादावनुगतेति प्रत्यक्षसिद्धैव भवति। पुनः दीपिकायामेव स्पष्टीकृतं संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणं कर्मेति।[3] अर्थात् कर्म स्वयं संयोगभिन्नं सदपि संयोगस्यासमवायिकारणं भवति।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संयोगसमवायिकारणे द्रव्येऽतिव्याप्तिवारणाय। समवायीत्युक्तम्। यथा केनचित्पुरुषेण यदा हस्तेन पुस्तकस्पर्शः क्रियते तदानीं यद्धस्तसंचालनं तद्धस्तपुस्तकयोः संयोगेऽसमवायिकारणत्वेऽपि स्वस्य संयोगरूपत्वान्न तस्य कर्मत्वम्। एतादृशे संयोगेऽतिव्याप्तिवारणायोक्तं संयोगभिन्नत्वे सतीति[4]।

अन्नंभट्टस्तु सरलभाषया कथयति चलनात्मकं कर्मेति वा।

इदं कर्मोत्क्षेपणमपक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनञ्चेति पञ्चविधं भवति। ऊर्ध्वदेशसंयोगासमवायिकारणत्वमुत्क्षेपणत्वम्। अधोदेशसंयोगासमवायिकारणत्वमपक्षेपणत्वम्। शरीरसन्निकृष्टसंयोगासमवायिकारणत्वमाकुञ्चनम्। शरीरविप्रकृष्टसंयोगासमवायिकारणत्वं प्रसारणत्वम्। अनियतदेशसंयोगासमवायिकारणत्वं गमनत्वमिति। भ्रमणादीनां गमन एवान्तर्भावो विहितः शास्त्रकारेण।

इदमेव कर्म धर्माधर्मजनकत्वात् सुखदुःखकारणमिति कृत्वा शास्त्रेषु कर्मवादः पौनः-पुन्येन चर्चितः।

अक्षपादगौतमः कर्मनिरपेक्षमीश्वरकारणतावादं समुपस्थाप्य खण्डनपुरस्सरं कर्मसापेक्षमेवेश्वरकारणतावादं समर्थयति। न्यायदर्शनस्य चतुर्थेऽध्याये सूत्रकारो लिखति

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्—14-1-19

अत्र भाष्यकारो वात्स्यायनः स्पष्टीकरोति पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनम्। यदधीनं स ईश्वरः। तस्मादीश्वरः कारणमिति। न्या. भा. 4-1-19 अतः जीवानां शुभाशुभकर्मफलदातेश्वर एव वर्तते।

पुरुषकर्माफल्यदर्शनादित्यस्य सम्पूर्तये सूत्रकारोऽग्रे स्पष्टीकरोति तत्कारित्वादहेतुः। (4-1-29) अर्थात् पुरुषः कर्माणि कुरुते परन्तु फलं त्वीश्वराधीनं भवति। कर्म कृत्वापि शीघ्रं फलं पुरुषैर्न लभ्यते। बहूनि कर्माणि पुरुषस्य विफलानि दृश्यन्ते। यदि जीवः स्वयमेव सर्वेषां कर्मणां फलानि स्वेच्छया प्राप्तुं समर्थो भवेत्तदा दुःखस्य भोगः कदाचिन्नैव स्यात्। एकमपि कर्म निष्फलं न स्यात्। परन्तु तथा न भवति। जीवस्य कर्मफलमीश्वराधीनं वर्त्तते।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अत्र पूर्वपक्षरूपेण मतमेकं समुपस्थाप्यते । ईश्वरो जीवानां कर्माणि नापेक्षते । स्वेच्छयैवानादिकालादेवेश्वरः सृष्टिनिर्माणं करोति । सर्वज्ञस्य सर्वशक्तिमतो विभोरीश्वरस्य कृते कर्मणां किमर्थमपेक्षा भवेत् । अत एव कर्मनिरपेक्ष एवेश्वरो जगतः कर्त्ता वर्त्तत इति पूर्वपक्षः । न्यायभाष्यकारो वात्स्यायनो वार्त्तिककार उद्योतकरश्च मतमिदं नाकुलीशपाशुपतमिति मत्वा पूर्वपक्षरूपेण समुपस्थापयतः ।

प्राचीनकाले इदमेव मतमीश्वरवाद इति आसीत् ।

सुश्रुतसंहितायां स्वभाववादः कालवादो यदृच्छावादश्चानेनेश्वर-वादेन सहोल्लिखिताः सन्ति ।[5]

कर्मनिरपेक्षमीश्वरवादं खण्डयितुं गौतमो लिखति—"न, पुरुषकर्मा-भावे फलानिष्पत्तेः । (4-1-20) अर्थात् जीवस्य कर्म विनेश्वरः फलं नैव साधयति । जीवो यथा शुभाशुभकर्म करोति तदनुसारं फलमपि प्राप्नोति । अतएव कर्मसापेक्ष एवेश्वरो जगतः कारणं भवति । अत एव केवलं जीवानां कर्मैव कारणं न वा केवलमीश्वर एव कारणम् । जीवानां शुभाशुभकर्म-जन्यमदृष्टमीश्वरश्चोभावपि जगतो निमित्तकारणमिति न्यायमतम् ।

कर्मादिसापेक्षः परमेश्वरः कारणमिति शैवदर्शनस्य मतं वर्त्तते[6] । यदीश्वरः प्राणिनां शुभाशुभकर्मणामपेक्षां विनैव कार्यं कुर्यात् तेभ्यश्च स्वेच्छयैव सुखं दुःखं वा दद्यात् तदेश्वरोऽपि सामान्यजनवद् रागद्वेषयुक्त इव भविष्यति । अत एव शैवसम्प्रदायेऽपि जीवकर्मसापेक्ष ईश्वरः संसारस्य कर्त्ता वर्त्तत इति स्वीक्रियते ।

वैशेषिकदर्शनस्य प्रौढव्याख्याकारः प्रशस्तपादाचार्यो लिखति सृष्टि-संहारविवेचनावसरे प्रलयकाले प्रविभक्ताः परमाणवोऽवतिष्ठन्ते धर्माधर्म-संस्कारानुविद्धा आत्मानस्तावन्तमेव कालम् ।

ततः पुनः प्राणिनां भोगभूतये महेश्वरसिसृक्षानन्तरं सर्वात्मगतवृत्ति लब्धादृष्टापेक्षेभ्यः तत्संयोगेभ्यः पवनपरमाणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्पर-संयोगेभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेण महान् वायुः समुत्पन्नो नभसि दोधूयमान-स्तिष्ठति ।......स च महेश्वरेण विनियुक्तो ब्रह्मातिशयज्ञानवैराग्यैश्वर्य-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सम्पन्नः प्राणिनां कर्मविपाकं विदित्वा कर्मानुरूपज्ञानभोगायुषः सुतान् प्रजापतीन् मानसान् मनुदेवर्षिपितृगणानन्यान्यपि चोच्चावचानि भूतानि च सृष्ट्वाशयानुरूपैर्धर्माधर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः संयोजयतीति ।[7]

अत्र न्यायकन्दलीकारः श्रीधराचार्यो लिखति यदीश्वर ऐश्वर्यात् कर्मफलं भोजयति । प्राणिनां कर्मविपाकं विदित्वेति । विविधेन प्रकारेण पाको विपाकः कर्मणां विपाकः कर्मविपाकः तं विदित्वैतावदस्य कर्मफलं भविष्यतीति ज्ञात्वा कर्मानुरूपाणि ज्ञानभोगायूंषि संयोजयति ब्रह्मेति भावः ।[8]

जीवः कर्मजन्यमदृष्टं स्मरति न वेति विषये श्रीधराचार्यो लिखति योनिजशरीरो हि महता गर्भवासादिदुःखप्रबन्धेन विलुप्तसंस्कारो जन्मान्तरानुभूतं सर्वं न स्मरति । ऋषयः प्रजापतयो मनवो दृष्टसंस्कारा अदृष्टं स्मरन्ति ।

न्यायवार्तिककार उद्योतकरोऽन्ये च प्राचीना नैयायिका जीवानामदृष्टाधिष्ठातृरूपेणेश्वरं प्रतिपादयन्ति । धर्माधर्मरूपादृष्टं क्रमशो जीवानां सुखदुःखयोः कारणं भवति । धर्माधर्मावचेतनगुणौ । अतएव तत्र चेतनः कश्चिददृष्टाधिष्ठातृरूपेणापेक्षितो भवति । चेतनस्याधिष्ठानं विनाचेतने क्रिया न जायते । अदृष्टस्याधिष्ठाता चेतन ईश्वरो वर्तते । अतएव न्यायमतेनेश्वरस्य सिद्धिरदृष्टाधिष्ठातृरूपेण क्रियते ।

अत्र चार्वाकाः स्वभाववादमङ्गीकृत्येश्वरस्यादृष्टस्य च खण्डनं कुर्वन्ति । किन्तु स्वभाववादं खण्डयन् कुसुमाञ्जलिकार उदयनाचार्यो लिखति

सापेक्षत्वादनादित्वाद्वैचित्र्याद्विश्ववृत्तितः ।
प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः ॥ इति ।

अत्र कार्यकारणभावं स्वीकृत्यादृष्टसिद्धये हेतुद्वयं समुपस्थापितम् । सांसारिककार्येषु यद्वैचित्र्यं दृष्टिपथमायाति तस्माददृष्टसिद्धिर्भवति । एवं च परलोकप्राप्तये जनैर्यागादिकं कर्मानुष्ठीयते । एवं तत्र तेषां प्रयत्नः सफलो भवति । अत एवादृष्टसिद्धिः क्रियते ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

किं नामादृष्टमिति विषय आङ्ग्लभाषायां डा० राधाकृष्णो लिखति

Adṛṣṭa is the stock of merit and demerit accruing from our good and bad action. So our lot is determined by our own actions. But being an unintelligent principle requires to be guided by a supremely wise person, namely God.

यस्यामुत्रार्थः प्रतीयते सोऽदृष्टार्थकः। वा. भा. 1.1.8 पुण्यपापात्मकं भोग्यमदृष्टम्।

अस्मिन् संसारे केनचित्सुखमनुभूयते केनापि च वेदना। कश्चिद् दुराचारे प्रवृत्तो भवति कश्चिच्च सदाचारे संलग्नो जायते। अस्य वैषम्यस्य कारणमदृष्टमेव। यस्मिन्नात्मनि समवायसम्बन्धेन धर्मस्तिष्ठति तत्र सुखानुभवो यत्र च समवायसम्बन्धेनाधर्मस्तिष्ठति तत्र दुःखं जायते। अत एव सुखदुःखयोः कार्ययोः कारणरूपेण धर्माधर्मरूपादृष्टस्य सिद्धिर्भवति।

दृष्टकारणमेव कार्यं सम्पादयतीति चार्वाकमतं तिरस्कुर्वन् नैयायिकः कथयति दृष्टकारणेभ्यः सांसारिकवैषम्यरूपं वैचित्र्यं नोत्पद्यते। एकस्मिन्नेव कुटुम्बे समाने कारणे दृष्टे सत्यपि कश्चित् सुखी भवति, कश्चिच्च दुःखी। अतएवात्र पूर्वजन्मार्जितमदृष्टमेव वैचित्र्यस्य कारणम्। अत एव शेषवदनुमानेन वैचित्र्यस्य कारणं साध्यते।

संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्। प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्संज्ञाकर्मणः (वै. सू. 2.1.19) इतीश्वरसिद्धौ काणादवचनम्। आचार्यव्योमशिवोऽत्र ब्रूते "तथा हि सर्वमचेतनं चेतनाधिष्ठितं प्रवर्त्तमानं दृष्टम्। यथा तन्तवो वस्त्रनिर्माणे कुविन्दायत्ता भवन्ति तथा च कर्मादि कस्याप्यायत्तं भवति। न चास्मदाद्यात्मैवाधिष्ठायकः। तस्य तद्विषयकज्ञानाभावात्। तथा चास्मदाद्यात्मनो न कर्मविषयो ज्ञानमिन्द्रियजः। नापि परमाण्वादिविषयः न च तदभावे तस्य प्रेरको दृष्टः। न चाचेतनस्याकस्मात् प्रवृत्तिरुपलब्धा। प्रवृत्तौ वापरनिष्पन्नेऽपि कार्ये प्रवर्तेत विवेकशून्यत्वात्[1]। अत्रेदं स्पष्टीकृतं यत्कर्म चेतनाधिष्ठितमेव प्रवर्तते।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

फलमत उपपत्ते-(वे. सू. 3.2.38) रित्यस्य वेदान्तसूत्रस्य व्याख्याने शङ्करो लिखति यज्जीवानां कर्मफलमोश्वरः सम्पादयति । कर्मफलं संसार-गोचरं त्रिविधं प्रसिद्धं जन्तूनां किमेतत्कर्मणो भवत्याहोस्विदीश्वरादिति भवति विचारणा । तत्र तावत्प्रतिपाद्यते फलमत ईश्वराद्भवितुमर्हति । कुत उपपत्तेः । स हि सर्वाध्यक्षः सृष्टि-स्थिति-संहारान् विचित्रान् विदध-द्देशकालविशेषाभिज्ञात् कर्मिणां कर्मानुरूपं फलं सम्पादयति ।[10]

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति वे. सू. 2.1 34 इति सूत्रस्य भाष्य आचार्यशङ्करेण न्यायदर्शनस्यादृष्टसापेक्षवाद ईश्वरकारण-तावादसिद्धान्तः समर्थितः । सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते । किमपेक्षत इति चेद् धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः । भामतीव्याख्यायां वाचस्पतिमिश्रोऽपि तथैव समर्थयति । "परात्तु तच्छ्रुतेः । कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धा वैयर्थ्यादिभ्य" इति सूत्रयोर्व्याख्याने शङ्करो लिखति परायत्तेऽपि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति । अर्थादीश्वर एव कर्मप्रेरको वर्तते । अत्र नैयायिकैः सह वेदान्तिनामपि नास्ति विरोधो यत् सृष्टिकर्त्तेश्वरो वर्त्तते तथा जीवानां कर्मफलापेक्षयासौ सर्वं सम्पादयति । तथा चेश्वरोऽदृष्टस्याधिष्ठासा वर्तत इति ।

रामानुजदर्शनानुसारमपीश्वरो जीवनियामको वर्तते ।

वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः ।
भुवनानामुपादानं कर्ता जीवनियामकः ॥

इति प्राणिकर्मसापेक्ष ईश्वरो जगत उपादानकारणं निमित्तकारणञ्च वर्तत इत्युक्तम् ।

कर्मकाण्डप्रधाने पूर्वमीमांसाशास्त्रे वैदिकविधानोद्दिष्टानि कर्माण्येव सर्वं साधयन्तीति प्रतिपादितम् ।

पद्मपादाचार्यो विज्ञानदीपिकायां वेदान्तसम्मतामाचारपद्धतिमा-श्रित्य लिखति कर्मणः प्राबल्यं सर्वतो भावेन मान्यं भवति । कर्मणो वासना जायते । वासनातश्च संसारस्योत्पत्तिर्भवति । अतएव संसारस्योच्छेदाय कर्मणो विनाशः परमापेक्षितः । कर्म त्रिविधं भवति संचितकर्म, संचीय-मानकर्म प्रारब्धकर्म च । सञ्चितकर्मणः संचीयमानकर्मणश्च नाशो ज्ञानेन

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कर्तुं शक्यते । यथा गीतायामुक्तं ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।।इति। प्रारब्धकर्मणः क्षयो भोगेन भवति-"नाभुक्तं क्षीयते कर्म" ति वचनं तत्र प्रमाणम् ।

कर्मतो योगतो ध्यानात्सत्संगाज्जापतोऽर्थतः ।
परिपाकविलोकाच्च कर्मनिर्हरणं जगुः ।।[12]

न्यायवार्तिककार उद्योतकरो लिखति

न ब्रूमः कर्माद्यनपेक्ष ईश्वरः कारणमिति[13] **।।**

कर्मानुसारमेवादृष्टं जायतेऽदृष्टानुसारं च फलं लभ्यते । अत एव सर्वस्वदानं विधाय यज्ञादिकं कर्म कृतं भूपतिभिर्बहुधा । यज्ञकर्मास्मिन् जन्मनि क्रियते कर्मफलमपरस्मिञ्जन्मनि लभ्यते । अत्र उदयनाचार्यो लिखति

विफला विश्ववृत्तिर्नो न दुःखैकफलापि वा ।
दृष्टलाभफला नापि विप्रलम्भोऽपि नेदृशः ।।[14]

इत्यस्याः कारिकाया व्याख्याने लिखति किमसौ सर्वलोकोत्तर एव यः सर्वस्वदक्षिणया सर्वबन्धुपरित्यागेन सर्वसुखविमुखो भूत्वा ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया वा केवलपरवञ्चनकुतूहली यावज्जीवमात्मानमवसादयति । [15]

अत एवानुमीयते यद् चिरविनष्टं यागादिकं कर्म स्वजन्यादृष्टात्मकव्यापारेण फलस्य जनकं भवति । अत एवोक्तं

चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना ।[16]
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।।

इत्यपि न्यायपरिशुद्धावुदयनेन स्पष्टोकृतम् । अदृष्टं जीवनिष्ठमिति नैयायिकैः स्वीक्रियते । मीमांसकैस्त्वदृष्टं भोग्यनिष्ठमुक्तम् । अस्यापूर्वस्य सिद्धौ तन्त्रवार्तिके प्रोक्तं

यागादेव फलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिध्यति ।
सूक्ष्मशक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते ।।[17]

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न चाप्यनुत्पाद्य किमप्यपूर्वं कर्म विनश्यत् कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोति। अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वापूर्वावस्थाऽपूर्वनामास्तीति तर्क्यते"[18]

ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुर्न च तदर्पणबुद्ध्यनुष्ठानेन प्रमाणाभावः। यत्करोषि यदश्नासीति गीतावचनस्यैव प्रमाणत्वात्। स्मृतिचरणे तत्प्रमाणस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनात्।[19] अत्र निष्कामकर्मणो महत्त्वं प्रतिपादितम्।

कर्मणः फलविषये नैष्कर्म्यसिद्धौ प्रोक्तं यथा

उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।
नैवं मुक्तिर्यतस्तस्मात् कर्म तस्या न साधनम्॥[20]

गीताभाष्ये कर्मणा चित्तशुद्धिर्भवतीति प्रतिपादितम्। यो नित्यं कर्म करोति तस्य फलरागादिनाऽकलुषीक्रियमाणमन्तःकरणं नित्यैः कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुध्यति विशुद्धं च प्रसन्नमात्मालोचनक्षमं भवति[21]।

बृहदारण्यकोपनिषद्यपि प्रतिपादितं यत् कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्त्यात्मानं प्रतिबन्धेन वेदितुम्। एवं काम्यवर्जितं सर्वात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधकं प्रतिपद्यते।

कर्मणां क्षयार्थं न्यायदर्शने कायव्यूहप्रक्रियाप्यङ्गीक्रियते। तथा चोक्तम्

आत्मनो वै शरीराणि बहूनि मनुजेश्वर।
प्राप्य योगबलं कुर्यात् तैश्च सर्वमिहाचरेत्॥
भुञ्जीत विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
संग्रहेच्च पुनस्तानि सूर्यस्तेजोगणानिव॥

म. म. डा० उमेशमिश्रः कायव्यूहविषये लिखति

Then he, through his yogic powers, comes to know of all the saṁskāras of the deeds of his previous births. He thereafter assumes various physical forms without

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

destroying the present one, within himself through the process of kāyavūha and exhausts the results of all his past deeds by experiencing pleasure and pain due to accrue to all of them. He thus becomes free from saṁskāras of his previous births and so after he exhausts the prārabdha karman and when his present body falls as dead, he does not assume another body after that for the simple reason of his having exhausted the fruits of the deeds of all his previous births through Kāyavyūha. So he becomes absolutely free from all types of pain and becomes Mukta.[22]

वेदान्तदर्शने तु ब्रह्मज्ञानानन्तरं

भिद्यते हृदयग्रन्थिश् छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।

इति स्वयमेव कर्मणां क्षयो भवति ।

एवंप्रकारेण न्यायवैशेषिकदर्शने कर्मवादोऽदृष्टजनक ईश्वरवाद-समर्थकश्च वर्तते । कर्मवादविषये विदुषां विवाद आसीदस्ति भविष्यति च ।

महाकालाय लिङ्गाय नित्याय परमात्मने ।
कर्माधिष्ठातृरूपाय निबन्धोऽयं समर्प्यते ।।

संदर्भ

1. वै. सू. 1.17
2. स. प. पृ. 61
3. त. स. दी. पृ. 139
4. नीलकण्ठटीका 139-140
5. स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा ।
   परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ।। सुश्रुत स.-शरीरस्थान—1-11
6. स. द सं. पृ. 320

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

7. प्रशस्तपादभाष्य—129-139
8. न्यायकन्दली—पृ. 131
9. व्योमवतीटीका प्रशस्तपादभाष्य पृ.—304
10. शाङ्करभाष्य 3.2.38
11. वे. सू. 2.3.41, 42
12. वि. दी. पृ. 121
13. न्या. वा. 4.1.21
14. न्या. कु. 1.8
15. न्या. कु. 1.8
16. न्या. कु. 1.9
17. तन्त्रवार्तिक पृ. 395
18. शा. भा. 3.2-40
19. अर्थ-संग्रह पृ० 196
20. नैष्कर्म्यसिद्धि 1.5.3
21. गीताभाष्य—18-10
22. HIP. p. 583

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आचार्य राजशेखर-कृत ग्रन्थों से सांस्कृतिक इतिहास का निर्माण

डॉ० रामदयाल सिंह

राजशेखर के ग्रन्थों के नामकरण पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो यह प्रतीत होता है कि शीर्षकों और विषय-वस्तु के चुनाव में कवि ने भारतीय संस्कृति की सुदीर्घ एवं समुज्जवल परम्परा के संवर्धन को अपने दृष्टि-पथ में रखकर ही ऐसा किया होगा। हरविलास (अप्राप्य), कर्पूरमंजरी बालरामायण, विद्धशालभञ्जिका, बालभारत और काव्यमीमांसा के नामों का यदि सांस्कृतिक विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि इन ग्रन्थों की रचना के माध्यम से कवि हमारे सांस्कृतिक इतिहास के अध्यायों में कुछ नए परन्तु बहुमूल्य पृष्ठों को जोड़ने का इच्छुक है।

'हरविलास' यद्यपि आज उपलब्ध नहीं है, (जिससे इसकी विषयवस्तु के संबंध में कुछ निश्चित रूप से सम्मति व्यक्त करना कठिन है,) तथापि यह शीर्षक ही हमारे धार्मिक विश्वासों में 'शिव' के महत्त्वपूर्ण स्थान का प्रतिफलन है। इस एक शब्द में हमारे सांस्कृतिक जीवन का बहुमूल्य सूत्र-लोकमंगल की कामना और जनजीवन में आमोद-प्रमोद एवं आनन्द प्राप्ति की असीम अभिलाषा—अन्तर्निहित है। हमारे धार्मिक जीवन में शिव की उपासना का प्रारम्भ स्वयं हमारे सांस्कृतिक इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है।

'कर्पूरमंजरी' में 'कपूर' शब्द हमारे सांस्कृतिक या धार्मिक जीवन में अपना एक विशेष स्थान रखता है। देवार्चन, ताम्बूल-सेवन तथा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

औषधादि में तो इसकी प्रयोजनशीलता है ही इसके अतिरिक्त इसका सर्वाधिक महत्त्व तन्त्र-साहित्य एवं शाक्तमत पर प्रकाश डालने में है। शाक्तमत के अनुसार कर्पूर शब्द सगुणब्रह्म का वाचक है[1] जिसमें मूलप्रकृति के तीनो गुण (सत्त्व, रज और तम) विद्यमान रहते हैं[2]। यहाँ 'क्' चित्कला (ज्ञान) का 'र्' तेज का, बीच का स्वर 'उ' रजोगुण का और अन्तिम 'म' तमोगुण का प्रतीक है। 'अ' सात्त्विक भाव का द्योतक है[3]। जब हम मूलप्रकृति से 'रजस्' और 'तमस्' को हटा देते हैं तो केवल सत्त्व गुण ही शेष रह जाता है अर्थात् 'कर्पूर' से मध्य और अन्तिम स्वर एवं व्यंजन को हटा देने के बाद तेजयुक्त शुद्धसत्त्वगुणात्मक 'क' ही शेष रह जाता है। अब इसमें इच्छा-शक्ति के प्रतीक 'ईकार' और कैवल्य-सूचक बिन्दु का जब योग हो जाता है, तब यहीं 'क्रों' आदिशक्ति का 'बीज' बन जाता है।[4] तन्त्र-शास्त्र के अनुसार यह 'बीज' धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सबका दायक है[5]:

ककारं धर्मदं देवि ईकारं चार्यदायकम्।
रकारं कामदं कान्ते मकारं मोक्षदायकम्।
एकत्रोच्चारणाद्देवी मोक्षनिर्वाणदायिनी॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'कर्पूर' शब्द कितना सार्थक और महत्त्वपूर्ण है। कर्पूरमञ्जरी में तन्त्र-मार्ग के बढ़ते हुए प्रभाव को प्रदर्शित किया गया है। इसलिए कवि ने इसके शीर्षक में तन्त्रमत की दार्शनिक अर्थवत्ता को समाविष्ट करने का प्रयास किया है।

राजशेखर कृत दूसरा नाट्यग्रंथ 'बालरामायण' भी हमारे सांस्कृतिक इतिहास की एक कड़ी है। राजशेखर ने इतिहास लेखन की दो विधाओं का उल्लेख किया है।[6] एक का नाम परिक्रिया और दूसरी का पुराकल्प है। परिक्रिया में रामायण और पुराकल्प में महाभारत का उदाहरण दिया गया है। 'बालरामायण' और 'बालभारत' की रचना के द्वारा राजशेखर ने सांस्कृतिक इतिहास की बहुमूल्य सामग्री संक्षेप में एक अभिनव रूप से रखने का प्रयास किया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

राजशेखर की तृतीय नाट्य-कृति 'विद्धशालभंजिका' है। इस 'विद्धशालभंजिका' शब्द में हमारे मूर्तिशिल्प की परिपक्वता का संकेत है। भारत के सांस्कृतिक जीवन में मूर्तिकला और उद्यान-क्रीड़ा का एक विशेष स्थान रहा है।

राजशेखर की चौथी नाट्य-रचना 'बालभारत' है। इसके दो ही अंक मिलते हैं। अगर यह पूरा नाटक हमें मिला होता तो निश्चय ही उस काल की हमारी सांस्कृतिक जानकारी में अभिवृद्धि हुई होती।

यायावरीय राजशेखर की अन्तिम कृति 'काव्यमीमांसा' भी सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यायावर शब्द में भारतीय समाज के वर्णविशेष के आचार-विचार और जीवन दर्शन का इतिहास समाहित है। 'काव्यमीमांसा' तत्कालीन समाज की बौद्धिक चेतना शिक्षा-दीक्षा, साहित्यिक रुचि और सांस्कृतिक जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों के विषय में पर्याप्त सूचनाएँ प्रस्तुत करतो है। वस्तुतः यायावरीय राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' को सूचनाओं का भण्डार कह सकते हैं। पूर्व मध्य-युगीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास का स्वरूप निर्धारण करने वाला यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

परन्तु खेद की बात है कि आज यह ग्रन्थ अपने अधूरे रूप में ही उपलब्ध है। यद्यपि अट्ठारह अधिकरणों में इस ग्रन्थ के प्रणयन का संकेत मिलता है,[7] लेकिन इसके अधिकरण आज अनुपलब्ध हैं। केवल 'कविरहस्य' नामक अधिकरण से ही सांस्कृतिक इतिहास के अध्येताओं को संतोष करना पड़ता है। यदि यह ग्रन्थ अपने पूर्ण रूप में प्राप्त होता तो उस समय की भारतीय संस्कृति को और अधिक विस्तृत जानकारी प्राप्त होती, जिससे आज हम वंचित हैं। काव्यमीमांसा का जो अधिकरण अभी प्राप्य है, उससे यह ज्ञात होता है कि राजशेखर ने एक औपनिषदिक अधिकरण को भी इस ग्रन्थ में समाविष्ट किया था, जिससे काव्य की उपविद्याओं अर्थात् चौंसठ कलाओं का विस्तृत विवेचन किया गया था।[8] वस्तुतः आज इस अध्याय के अप्राप्य होने के कारण हमारी तत्कालीन

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संस्कृति के एक प्रमुख अंग पर राजशेखर का साहित्य पूर्ण प्रकाश डालने में असमर्थ है।

इसके अतिरिक्त राजशेखर द्वारा रचित 'भुवनकोश' भी अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध रहता तो प्राचीन भारत की भौगोलिक स्थिति और उसके सांस्कृतिक महत्त्व पर कहीं अधिक प्रकाश पड़ा होता।

अतएव, सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण को दृष्टि से उपर्युक्त परिसीमाओं की परिधि में बैठकर ही हम राजशेखर के ग्रन्थों की मीमांसा करने को विवश हैं।

---

1. Hymn To Kale : Karpūrādi Stotra' by Arthur avolon P. 101
   कर्पूरं कल्पयति जगत् प्रपञ्चं यत्।
   तत् सगुणब्रह्म इत्यर्थः।
2. वही, पृ० 100-101
3. वही पृ० 44-45
4. Hymn To Kale : Karpūrādistotra, by Arthur Avalon, P. 37 प्रथम स्तोत्र।
5. श्रीकर्पूरादिस्तोत्रम् (तांडलतन्त्रे) पृ. 100।
6. काव्यमीमांसा अ० 2 पृ. 8 (बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्)।
7. काव्यमीमांसा अ० 4 पृ० 4
   इतीयं प्रयोजकाङ्क्षवती संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पग्रन्थेनाष्टादशाधिकरिणी प्रणीता।
8. काव्यमीमांसा अ० 2
   उपविद्यास्तु चतुःषष्टिः। ताश्च कला इति विदग्धवादः। स आजीवः काव्यस्य। तमौपनिषदिके वक्ष्यामः।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्राक्तनशिल्पकलायां गणपतेरङ्कनम्

—आचार्य मीरा डॉ० कैलाशनाथ द्विवेदी च

संस्कृतेरनेकेषूपादानेषु साहित्यशिल्पवास्तुचित्रादिललितकला। परस्परमाश्रित्य संसारस्य सर्वान् विषयानभिव्यञ्जयन्ति। पुरातन-भारतोय-साहित्य[1]शिल्पचित्रादिकृतिषु श्रेष्ठसांस्कृतिकस्वरूपाणामङ्कनं समुपलभ्यते, यासु गणपतिरुल्लेखनीयः पुरातात्त्विकोत्कृष्ट-मूर्तिशिल्पकला दृष्ट्या।

यद्यपि कतिपयप्राच्यविद्याविद्भिर्गणपतिरार्येतरदेवोऽवधारित-स्तथापि विष्णुरुद्रेन्द्र-सूर्यादिदेवगण इव गणपतिरपि पूजित आसीत् प्राचीन-कालादेव शैवशाक्तवैष्णवादिसर्वोपासकैः समान-श्रद्धाभक्तिपूर्वकम्। पाश्चात्यविद्वांसो गणपतिं ग्रामदेवतारूपे मानवीयविकासस्य द्वितीया-वस्थायां पशुपालनकर्मणि पूजार्हमामनन्ति। तेषां मतानुसारं गणपतेर्देव-त्वविकासः कालान्तर एवाऽभवत्। गणपतेर्गौरव-गानं-पुराणादि[2]-ग्रन्थेषु प्राप्यते, यत्र तस्यानेकनामरूपावताराणां वर्णनं वर्तते।

प्राचीनशिल्पकलाकृतिषु गणपतेरनेकरूपेषु मनोहारिण्यो मूर्तयो वर्तन्ते। सुप्रसिद्धशिल्पकलामर्मज्ञ आनन्दकुमारः स्वामी शिल्पाङ्कन-दृष्ट्येमा गणपतिप्रतिमाः प्रकारान्तरेण यक्षरूपे मन्यते। इतिहाससंस्कृति-पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० वासुदेवशरणोऽग्रवालोऽपि[3] प्रारम्भिकगणपतिप्रतिमा यक्षरूपे निर्मिता आसन्निति तथ्यं प्रतिपादयति।

गणपतिः सामान्यतो मूषिकारूढ एकगजमुखः पञ्चगजमुखो वा विशालतुण्ड, एकदन्तो, यज्ञोपवीतधारी, लम्बकर्णो, द्विबाहुतः षोडशबाहून् धारयन् प्राक्तनशिल्पकलाकृतिषु निर्मितः। गणपतेः प्राचीनतमा प्रतिमाऽ-प्रतिमैव यान्ध्रप्रदेशेऽमरावतीनगर्यां निर्मिता मन्यते पुरातत्त्वविद्भिर्यस्यां शुण्डदन्तरहितस्स मानवाकारः। ईदृशी गणपतिप्रतिमा श्रीलङ्काया मिहिनतलेस्तूपादपि सम्प्राप्ता। अस्यां गणपतिः शुण्डदण्डसहितश्चित्रितः।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भारतीयश्रीलङ्काप्रतिमयोरनयोः पर्याप्तं साम्यं संलक्ष्यते शिल्पकला-दृष्ट्या।

सामान्यतया गणपतिः प्रतिमासु किरीटेन करण्डकेन वा सुशोभितस्त्रिनेत्रधारी चर्द्धिसिद्धि-सहितश्च संलक्षितः। गणपतेरेका **कुषाणकालिका प्रतिमा मथुरातः** सम्प्राप्ता, यस्यां यज्ञोपवीतधारी पञ्चगजमुखो गणपतिश्च परिपूर्णमानवाकारेण विकसितां प्राक्तनशिल्पकलां प्रदर्शयति। (द्रष्टव्या मथुरासंग्रहालयो मूर्तिकलावीथी संख्या 2577)

भूमरानाम्नि स्थले सम्प्राप्ता गणपतिप्रतिमा गुप्तकालिकी प्रतीयते यस्यां गणपतिरत्यन्ताऽलंकृते सुन्दर आसने समासीनो वर्तते। अस्यां प्रतिमायां तस्य वामहस्ते मोदकपात्रं शोभते।

मध्यप्रदेशस्यो**दयगिरिगुहायां** गणपतिप्रतिमाऽप्रतिमैव विराजते, यस्यामन्यविशेषताभिः सह स नग्नः प्रदर्शितः। (द्रष्टव्योदय-गिरि-गुहा-संख्या ६)

मृन्मयी गुप्तकालीनैका गणपतिप्रतिमोत्तरप्रदेशस्य कानपुरग्रामीण-जनपदस्य **भीतरगाँवनाम्नि** ग्रामेऽवस्थिता पुरातनेष्टकामन्दिरे, यस्मिन्नुड्डीयमानो गणपतिर्गणरूपेऽङ्कितः। अस्य पार्श्वे पुरुषोऽप्युड्डीयमानः परिलक्ष्यते। प्राक्तनेतिहाससंस्कृतिपुरातत्त्वशिल्पकलाविद्भिरनुमीयते यत्प्रतिमेयं कुमारकार्तिकेयस्य।

झांसीजनपदस्य **देवगढमन्दिरेपि** प्राप्तासु गुप्तकालिकोत्कृष्टप्रतिमास्वनन्त (शेष)-शायिनो विष्णोर्निकटस्थितं देवसमूहे गणपतेरमूर्तेरप्यङ्कनं विशिष्टकलात्मकं वर्तते।

गुप्तोत्तरकालिकगणपतिशिल्पाङ्कन परम्पराऽपि गौरवपूर्णैवाऽवाप्यते, यस्यामधिसंख्यकाः कलात्मकगणपतिप्रतिमा निर्मीयन्ते स्म शिल्पिभिः। ईदृश्यः प्रतिमा भारतस्य वर्षस्य क्षेत्रे क्षेत्रे प्राप्यन्ते बाहुल्येन। पुरातनपाञ्चालजनपदस्य[1] प्रसिद्धे राजनगरे **कान्यकुब्जे (कन्नौज-नगरे)** खीस्तस्याष्टम्यां शताब्द्यां निर्मिता नृत्यद्गणपतेः प्रतिमा प्राप्ता या स्थानीये पुरातत्त्व-संग्रहालये सुरक्षिता विद्यते साम्प्रतम्।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न केवलमुत्तरभारतेऽपि तु दक्षिणभारतस्यानेकस्थलेषु सर्वोत्तम-मूर्तिशिल्पोदाहरणभूता गणपतिप्रतिमाः प्राप्यन्ते। तत्र **बेंगीनामके** स्थाने ख्रीस्तस्य तृतीय—चतुर्थ[5]शताब्द्यां विनिर्मिता द्विभुजोत्कृष्टकलात्मक-मूर्तिरूपलब्धाऽभवत्। प्रतिमायामस्यां गणपतिः शिवपरिवारेण सह सन्दर्शितः शिल्पकारेण भावपूर्णाकर्षकमुद्रायाम्।

'दक्षिणभारते सामान्यतः सिंहारूढो गणपतिः संदृश्यते, शिल्पकला-कृतिषु, किन्तु साम्प्रतं **महाराष्ट्रे "मयूरेश्वर"** इति नाम्नैको गणपति-विग्रहो विख्यातो यत्र शिल्पिना तस्य मयूरवाहनमङ्कितम्। **मध्यप्रदेशे इन्दौरोज्जैननगरयोर्गु**णशालिगणपतेर्विशालाः प्रतिमा विख्याताः। दक्षिण-भारते **मदुराईनगरे** शक्तिस्वरूप सिंहासीनो गणपतिदर्शनीयः स प्रतिमायां पञ्चमुखो दशभुजश्च परिलक्ष्यते।

टीकमगढ़े तु गणपतिर्द्वादशबाहुरङ्कितः। अनेकेषु स्थलेषु नृत्यन् गणेशोऽङ्कितः शिल्पिभिः सुन्दररूपे प्रसन्नमुद्रायाम्। **भेड़ाघाटे** स्थले गणपतेर्नृत्य-मुद्रामयी प्रतिमाऽत्यन्ताकर्षिका प्रतीयते।

कर्णाटकप्रदेशस्य मैसूरनगस्य होयलेश्वरमन्दिरे, तञ्जौरस्य बृहदी-श्वरमन्दिरे चापि नृत्यतो गणपतेः प्रतिमाः शिल्पकलादृष्ट्याऽप्रतिमाः।

न केवलमार्यावर्ते भारते वर्षेऽपि तु विश्वस्य **बर्माजापानचीनकम्बोडिया-मारीशसथाइलैण्डहिन्देशियाटर्कीमैक्सिको**प्रभृत्यनेकेषु देशेष्वपि गणपति-प्रतिमा मन्दिरेषु संस्थापिताः संपूजिताश्च। न केवलं हिन्दुधर्मेऽपि तु बौद्ध-धर्मेऽपि गणपतेर्माहात्म्यं स्वीकृतम्। अत एव **बौद्धविहारेष्वपि** गणपति-प्रतिमाः प्राप्यन्ते। परिणामतो गणपतिपूजा भारतीयसीमा अतिक्रम्य विदेशेष्वपि प्रचलिताऽभवत् प्राचीनकालादेवोपर्युक्तदेशानां मन्दिरेषु।

गणपतेरेकविंशतेरवताराणामेकपञ्चाशतो रूपाणां सुन्दरं वर्णनं प्राप्यते पुराणग्रन्थेषु[6]। तस्य सहस्रं नामानि 'गणपतिसहस्रनामपुस्तक' उल्लिखितानि। एतेषु द्वादशनामानि परमप्रचलितानि माङ्गलिकसंस्कारेषु भारतीयानां विद्यारम्भे विवाहे[7] च सर्वविघ्नोपशान्तये।

गणपतेः शास्त्रोक्तानां **बालब्रह्मचारिबालतरुणविघ्नहर्तृ-वक्रतुण्ड-पिङ्गललक्ष्मीपतिभुवनेशनृत्यशक्तिध्वजादीनां** स्वरूपाणामभिव्यक्तिस्तु

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सम्यग्रूपेण शिल्पकलाकृतिषु न प्राप्यते, तथापि संसारेऽस्मिन् या याः शिल्पकलाकृतयोऽवशिष्टाः मूर्तिशिल्पे तास्तास्तस्य देवत्वं माङ्गलिकचारुरूपेण प्रमाणीकर्तुं प्रतिष्ठापयितुञ्चालम् ।

संक्षेपेण कथयितुं शक्यते यद्भारतीयोपासनायां विघ्ननाशिगणपतेर्महत्त्वपूर्णमनन्यं स्थानं सुरक्षितम् । अत एव तस्य मङ्गलमूर्तिं परमैकतत्त्वरूपेऽवधार्य पुरातनशिल्पकलाकृतिषु प्रतिमा इमाः पुरातात्त्विकनिधौ सर्वकारेण तथा संरक्षणीया धर्मप्राणभारतीयजनताया उपासनायै यथा मूर्तितस्करान् इमाः विदेशान् न प्रेषयेयुः पापधनार्जनाय ।

---

1. वैदिक-साहित्ये (ऋक्० शुक्लयजुर्वेदः, रुद्राष्टाध्यायी 1.1 गणानां त्वा गणपति० हवामहे ।···)
रामायणे, अयोध्या० २५।८, महाभारते, आदिपर्वणि 1.83
"सर्वज्ञो गणेशो यत् क्षणमास्ते विचारयन् ।
तावच्चकार व्यासोऽपि श्लोकानन्यान् बहूनापि ।।" आदि०1.83
2. द्रष्टव्यं-शिवपुराणं स्कन्दपुराणं गणेशेपुराणञ्च (गणपतिरूप-चरितावतारवर्णनम्) ।
3. कला और संस्कृति, प्रथम सं०, पृ० 134 । Mathura Art Musuem NO. 2577" Brahmanical Images in Mathura" J.I.S O, 1937, P127.
4. 'पंचाल' शोधपत्रिकायाः प्रथमोङ्कः 1985 (कन्नौज-महोत्सवाङ्कः) पृ० 69 South Panchal Dr. R. K. Paul; Kanpur 1985 द्रष्टव्यं चित्रम् 11A
5. द्रष्टव्यं 'दैनिक-जागरणम्" (कलासंस्कृति-परिशिष्टाङ्कः, दिनाङ्कः 16-9-88) तटस्थगोस्वामिनो लेखः 'गणपति भारतीय शिल्प में' पृ० सं. 5
6. द्रष्टव्यं गणेशपुराणम् (एकं हस्तलिखितं गणेशपुराणाख्यं पुस्तकं लेखकेनैकरसानन्दसंस्कृतमहाविद्यालयस्य पूर्वंपुराणेतिहासविभागाध्यक्षस्य पं० लालबिहारिद्विवेदिनो मैनपुरीगृहेऽवलोकितम् । इदं शतत्रयवर्षप्राचीना प्रतीयते) ।
7, सुमुखश्चैकदन्तश्च कपिलो गजकर्णकः ।
लम्बोदरश्च विकटो विघ्ननाशो विनायकः ।।
धूम्रकेतुर्गणाध्यक्षो भालचन्द्रो गजाननः ।
द्वादशैतानि नामानि यः पठेच्छृणुयादपि ।।
विद्यारम्भे विवाहे च······।
······विघ्नस्तस्य न जायते ।।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तत्त्वचिन्तामणौ समवायवादः

—का. ई. धरणीधर

दयानिधिं नमस्कृत्य देवनाथं तथा गुरुम् ।
तत्त्वचिन्तामणेर्दृष्टया समवायः प्रसाध्यते ॥

संनिकर्षनिरूपणवेलायां शब्दप्रत्यक्षं प्रति समवायाख्यः संनिकर्षो हेतुरिति मणिकृतस्तत्त्वचिन्तामणौ न्यरूरुपन् । तदुपरि समवायनामकः पदार्थ एवाप्रामाणिकस्तत्कथं तस्य संनिकर्षत्वं युज्यत इति प्रश्नमुपक्षिप्य विस्तरेण समवायः प्रसाधितः । एतं समवायपदार्थमधिकृत्य प्रायः शास्त्रान्तरकारैर्बहुधा दूषणानि प्रादर्शिषत । तेषां दूषणानां न्यायमते परिहारो दृश्यते वा न वा ? तत्र मणिग्रन्थस्य पन्थाः कः ? इत्यादि विमृश्य यथाशक्ति मणिसिद्धान्तं समर्थयिष्यामः ।

वैशेषिकदर्शने समवायः

अत्र कणव्रतः—प्रथममयमेव महर्षिः समवायं प्रदर्श्य तद्विषयकं सूत्रं प्रणिनाय । तथा हि कार्यकारणयोरवयवावयविनोर्यतः संबन्धादिहेदमिति प्रत्ययः स समवायः । तन्तुषु पटः, कपालेषु घटो वीरणेषु कट इत्यादिप्रतीतयो हि पटादौ तन्त्वादिवृत्तित्वं विषयीकुर्वन्ति । तच्च वृत्तित्वं संबन्धविशेषनियन्त्रितम् । तादृशवृत्तितानियामकः संबन्धः समवाय एव । एतत् सर्वं मनसि निधाय कणभक्षः [1]'इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः' इत्यसूत्रयत् । अत्र कार्यकारणयोरिति सूचनेनावयवावयविनोः कार्यगुणादिकारणद्रव्ययोश्च विशिष्टबुद्धिनियामकस्समवाय इत्येतावन्मात्रं प्रतीयते । परं तु जातिव्यक्त्योर्नित्यगुणनित्यक्रियाभ्यां द्रव्यस्य च समवायः संबन्ध इत्ययं विषयः सूत्रादस्मान्नावगम्यते । तदर्थमुपस्कारकृता[2]'कार्यकारणयोरित्युपलक्षणमकार्यकारणयोरित्यपि द्रष्टव्यमि'ति व्याख्यातम् । एतेन 'कार्यकारणयोरि'ति पदमुपलक्षणमिति ज्ञायते । अथवा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सूत्रान्तरपर्यालोचनयापि तेषां ग्रहणं सुशकमिति प्रतीमः। तथा [3]'ह्येतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातमित्यत्र जातिव्यक्त्योरपि समवायः सूत्राभ्युपगत इति निर्धार्यते ।[4]'आत्मसमवायादात्मगुणेषु' इति सूत्रेण गुणगुणिनोः समवायः स्वीकृतः । एवं [5]'तत्समवायादात्मगुणेषु' इत्यत्र क्रियाद्रव्ययोः समवायः प्रदर्शितः । एवं [6]'कारणे समवायात् कर्माणि' [7]'तथा रूपे कारणैकार्थसमवायाच्च' इति सूत्रेऽप्यत्रानुसन्धेयौ । तथा चावयवावयविनोः कार्यगुणादिकारणद्रव्ययोश्च, गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्यविशेषपदार्थयोश्चाधाराधेयभावनियामकः संबन्धः समवाय इति वैशेषिकमतप्रक्रिया ।

समवायोऽतिरिक्तपदार्थो नित्य एकश्च

अयं च समवायः पृथक् पदार्थ इति वैशेषिकाः। स च न द्रव्ये न वा गुणेऽन्तर्भवति, विलक्षणबुद्धिविषयत्वात् । यथा सत्ता न द्रव्यादिष्वन्तर्भवति द्रव्यादिबुद्धिविलक्षणविषयत्वात् तथेति यावत् । तदाह कणभक्षः [8]'तत्त्वं भावेन' इति । एतेन समवायस्य नित्यत्वैकत्वे व्याख्याते ।

[9] तत्त्वचिन्तामणौ समवायः

गङ्गेशोपाध्यायस्तत्त्वचिन्तामणौ चतुर्भिरनुमानैः समवायस्यातिरिक्तपदार्थत्वं समसाधयत् ।

1. तथाहि गुणक्रियाजातिविशिष्टबुद्धयो विशेषणसंबन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वाद्दण्डीति बुद्धिवदिति । यथा दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिर्विशेषणस्य दण्डस्य संयोगाख्यं संबन्धं विषयीकरोति, तथा शुक्लः पट इत्यादिबुद्धिरपि विशेषणस्य शुक्लादेः संबन्धं विषयीकरोतीति वक्तव्यम् । स एव समवायः । न च स्वरूपसंबन्धो यथाऽभावविशिष्टप्रतीतौ स्वीकृतस्तथात्रापि स एव भवत्विति समवायो नार्थान्तरमिति वाच्यं, यतो गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धीनां पक्षधर्मताबलेन विषयः संबन्धः सिद्ध्यन् लाघवादेक एव सिद्ध्यति, एव समवायो, न तु स्वरूपम् । तत्तत्स्वरूपाणामनन्तत्वात् । नापि सिद्धसाधनम्, एतदनुमानप्रवृत्तेः पूर्वं गुणादिस्वरूपाणां संबन्धत्वेनाऽक्लृप्तत्वात् । यद्यपि 'रूपे रसाभाव' इत्यादि-प्रतीत्या गुण-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्वरूपस्यापि संबन्धत्वं क्लृप्तम्, तथापि गुणतद्गताभावात्मकसंबन्धिद्वय-स्वरूपस्य क्लृप्तत्वेऽपि गुणगुण्यात्मकसंबन्धिद्वयस्वरूपस्य संबन्धत्वम-क्लृप्तमिति तदेव साधनीय स्यात्। तत्र च गौरवाल् लाघवसहकृतपरा-मर्शादेकः समवायोऽनुमानेन सिद्ध्यतीति मणिकृतामाशयः। यथा 'क्षित्यादि कार्यं सकर्तृकम्' इत्यत्र 'कृतिजन्यत्वव्याप्यकार्यत्ववान्' इति परामर्शादपि 'कृतेरेकत्वे लाघवमिति' लाघवज्ञानसहकृतात् 'क्षित्यङ्कुरादिकमेककृति-जन्यम्' इत्यनुमितिवत् संबन्धस्यैकत्वे लाघवमिति लाघवज्ञानसहकृताद् विशेषणविशेष्यसंबन्धविषयकत्वव्याप्यविशिष्टबुद्धित्ववती गुणक्रियादि-विशिष्टबुद्धिरिति परामर्शादपि विशेषणविशेष्ययोरेकसंबन्धविषयिण्यनु-मितिरिति सिद्ध्यति।

ननु समवायस्यैकत्वे संबन्धसत्त्वे संबन्धिसत्त्वमिति नियमाद् यत्र यत्र समवायस्तत्र तेन समवायेन तत्समवायस्य संबन्धिनो रूपादेः सत्त्वम-पेक्ष्यते। तथा च यथा वायौ स्पर्शस्य समवायो वर्तते, तेन समवायेन स्पर्शोऽपि वर्तते, तथैव तस्य समवायस्य संबन्धि यत् पृथिव्यादिगतं रूपं तस्यापि सत्त्वं वायावापद्येतेति 'वायू रूपवान्' इति प्रतीत्यापत्तिरिति चेदुच्यते। रूपसमवायसत्त्वेऽपि रूपाभावात्। रूपप्रतियोगिकत्वविशिष्ट-समवायः पृथिवीजलतेजस्सु वर्तते तस्य वायावसत्त्वात्। संबन्धाभावात् तत्संबन्धिनो रूपस्य न वायावपत्तिरिति न दोषः।

2. ननु 'धार्मिकल्पनातो वरं धर्मकल्पना' इति न्यायेन क्लृप्तानामेव गुणादिस्वरूपाणां संबन्धत्वमात्रकल्पने लाघवम्। समवायकल्पने च तस्य संबन्धत्वमपि कल्प्यमित्युभयकल्पने गौरवम्। किं च प्रतीतेर्विषयनियमः सामग्र्यधीनो लाघवादन्यथा विशेषणविशेष्यमात्रविषयकत्वे लाघवात् सविषयकत्वानुमाने सति संबन्धाविषयकत्वमेव स्यादिति पूर्वोक्तानुमाने-ऽस्वरसदर्शनादनुमानान्तरम् 'अथवा' इत्यादिना प्रादर्शि मणौ। तथाहि— गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेषणसंबन्धनिमित्तिका सत्यविशिष्टबुद्धित्वा-दिति। यथा दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिर्विशेषणभूतदण्डसंयोगं निमित्ती-कृत्य जायत एवं तन्तुषु पट इत्यादिविशिष्टबुद्धेरपि विशेषणभूतपटादि-संबन्धजन्यत्वमपेक्षितम्। स एव समवाय इति समवायसिद्धिः। भ्रमे

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

व्यभिचारवारणाय हेतौ सत्यपदं निविष्टम् । अत्र यथा क्षित्यादौ कारणत्वेनेश्वर एकः सिद्धयति, तथा विशिष्टबुद्धिकारणत्वेन सिद्धयन् समवायो लाघवादेकः सिद्धयति । अनुगतकार्यस्यानुगतकारणजन्यत्वात् । गुणादिस्वरूपत्वं नानुगतमिति तद्व्युदासः । विशिष्टबुद्धेः संबन्धाजन्यत्वे गवाश्वादावपि विशिष्टबुद्धयापत्तेः ।

3. एवं 'नव्यास्तु' इत्यादिना तृतीयमनुमानमुदटङ्कि मणौ । तथा हि गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिः संबन्धिभिन्नविशेषणसंबन्धविषया निर्विषयकभावविशेषणकविशिष्टबुद्धित्वादितरानिरूपणानिरूप्यविशेषणकविशिष्टबुद्धित्वाद्वेति । संबन्धिभिन्नो यो विशेषणस्य संबन्धस्तद्विषयकत्वमत्र साध्यम् । संबन्धिभिन्नेति विशेषणान्न स्वरूपसंबन्धमादायार्थान्तरस्यावकाशः । हेतौ विशिष्टेति विशेषणं निर्विकल्पके व्यभिचारवारणाय । घटाभाववद्भूतलमिति विशिष्टबुद्धौ स्वरूपसंबन्धविषयिण्यां संबन्धिभिन्नसंबन्धविषयकत्वरूपसाध्याभावाद् विशिष्टबुद्धित्वरूपहेतुसत्त्वाच्च व्यभिचारः स्यादिति तद्वारणाय भावविशेषणकेति बुद्धेर्विशेषणम् । घटाभाववद् भूतलमिति विशिष्टबुद्धावभावविशेषणकत्वमेव वर्तते, न भावविशेषणकत्वमिति न व्यभिचारः । 'ज्ञातो घटः' इति बुद्धौ ज्ञानरूपभावविशेषणकबुद्धित्वरूपहेतुसत्त्वात् स्वरूपानतिरिक्तविषयतात्मकसंबन्धविषयिण्यां तस्यां संबन्धिभिन्नसंबन्धविषयकत्वरूपसाध्याभावाच्च व्यभिचारः स्यादिति तद्वारणाय हेतुघटकभावे निर्विषयकेति विशेषणम् । विशेषणस्य ज्ञानस्य सविषयकत्वान्न दोषः ।

नन्वेवमपि 'भूतले घटाभावः' इत्यभावविशेष्यके 'घटस्य ज्ञानम्' इति ज्ञानविशेष्यके च ज्ञाने व्यभिचार इति चेन्न । निर्विषयकभावमात्रविषयकबुद्धित्वस्य विवक्षितत्वात् । तत्त्वं सविषयकभावाविषयकत्वे सत्यभावाविषयकत्वमतो न कोऽपि दोषः ।

एवमपि 'रूपसमवायवान् घटः' इति विशिष्टबुद्धावुक्तहेतुसद्भावात् स्वरूपसंबन्धविषयिण्यां तस्यां संबन्धिभिन्नसंबन्धविषयकत्वरूपसाध्याभावाच्च व्यभिचारः स्यादिति पर्यालोच्येतरनिरूपणेत्यादिद्वितीयहेत्वनु-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

धावनम् । इतरनिरूपणेन निरूप्यं यद् विशेषणं विशेष्यं च तद्विषयकबुद्धित्वादिति तदर्थः । समवायस्य प्रतियोग्यनुयोगिनिरूप्यत्वेन तद्विशेषणकबुद्धौ व्यभिचारः । अभावस्यापि प्रतियोगिनिरूप्यत्वान्न तद्बुद्धौ व्यभिचार इति मणिकृतामाशयः ।

4. एवं 'यद्वा' इति चतुर्थमनुमानं प्रादर्शि मणौ । इन्द्रियप्रत्यासत्तित्वेनापि समवायः सिद्ध्यति । तथा हि गुणक्रियादिसाक्षात्कार इन्द्रियसंबन्धसाध्यो जन्यप्रत्यक्षत्वाद् दण्डोप्रत्यक्षवदित्यनुमानेन साक्षात्संबन्धासंभवादिन्द्रियसंयुक्ते संबन्धः सिद्ध्यन् पक्षधर्मताबलाल्लाघवेनानुगतः समवायः सिद्ध्यत्यनुगत कार्यस्यानुगतकारणजन्यत्वात् । न तु संयुक्तविशेषणतारूपसंबन्धस्तत्र, तस्य तत्तद्रूपादिरूपत्वेनाननुगतत्वादिति चतुर्थानुमानस्य भावः ।

अतिरिक्तसमवायपक्षे दूषणं तत्परिहारश्च

ननु गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिनिर्वाहकतया यदि समवायसंबन्धाख्योऽतिरिक्तः पदार्थोऽभ्युपगम्यते, तदा घटाभाववद्भूतलमित्यादिविशिष्टबुद्धिरपि पक्षीकृत्य तत्रापि संबन्धिभिन्नसंबन्धकल्पनापत्तिरिति सर्वे शास्त्रान्तरकाराः समवायपक्षं दूषयन्ति ।

अत्रैवं प्रतिविधीयतेऽत्र दूषणस्य विवक्षणं किं प्रतिबन्दीप्रदर्शनपरम् ? उत तद्द्वारा समवायसाधकानुमानेऽप्रयोजकत्वस्यार्थान्तरस्य वोद्भावनम् ? नाद्यः, प्रतिवन्द्या अनुत्तरत्वात् । तथा च शाबरं भाष्य [10]'प्रतिबन्दी खल्वेषा ? न ह्यनया स्वपक्षस्साधितो भवति, परपक्षो दूषितश्च' इति । नापि द्वितीयोऽनुगतकारणं विनानुगतकार्यासंभवस्य विपक्षे बाधकत्वात् । नाप्यर्थान्तरमेकत्वेन लाघवात् समवायस्यैवानुमितिविषयत्वात् । स्वरूपसंबन्धस्य तत्तत्स्वरूपत्वेन नानात्वेन गौरवात् ।

समवायस्य नित्यत्वैकत्वेऽनुपपन्न इति केषांचन तीर्थङ्कराणां दूषणम्

समवाय एक एवेति [11]'तत्त्वं भावेन' इत्यत्र कणादमुनिनाऽसूचि । यथैका सत्ता सर्वत्र सद्बुद्धिप्रवर्तिका तथैक एव समवायः सर्वत्र समवेत-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

बुद्धिप्रवर्तको भवति । अत एव स नित्योऽप्युत्पादविनाशयोस्तस्य प्रमाणाभावात् । तस्यैकत्वेन तन्नाशाभ्युपगमे तन्नाशदशायां नित्ये द्रव्ये द्रव्यत्वादेर्विशिष्टानुभवानुपपत्तेश्च । अतः समवायो नित्य एकश्च । अत एवैवमवाचि[12] "संबन्ध्यनित्यत्वेऽपि न संयोगवदनित्यत्वं भाववदकारणत्वात् । यथा प्रमाणतः कारणानुपलब्धेर्नित्यो भाव इत्युक्तं तथा समवायोऽपीति" इति प्रशस्तपादभाष्ये ।

अत्र शङ्करभाष्यकृद्दूषणम्

अत्र शङ्कराचार्याः—युतसिद्धयोस्संबन्धः संयोगोऽयुतसिद्धयोस्तु समवाय इति वैशेषिकदर्शनम् । तच्च न संभवति । कार्यात् कारणस्य प्राक्सिद्धत्वेनायुतसिद्धत्वानुपपत्तेः । न च कारणातिरेकेणाभावात् कार्यस्यायुतसिद्धिर्भवतु, कारणस्य युतसिद्धिरेव स्यादिति वाच्यम्, संबन्धिद्वयाधीनसद्भावो हि संबन्धो नासत्येकस्मिन्नपि संबन्धिनि भवितुमर्हति । अत एवाभ्यधुरेवं शङ्करभगवत्पादाः । [13]'नापि संयोगस्य समवायस्य वा संबन्धस्य संबन्धिव्यतिरेकेणास्तित्वे किंचित् प्रमाणमस्ति' इति । विस्तरस्तु [14]'अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा' इति ब्रह्मसूत्र-व्याख्याने द्रष्टव्यम् ।

भामतीकारदूषणम्

तत्र भामती—संबन्धिनोऽनित्यत्वेन समवायसंबन्धस्याप्यनित्यत्वं युक्तम् । अतो न नित्यः समवायः तदुक्तम्—[15]'अपि च समवायस्यापि संबन्ध्यधीनसद्भावस्य संबन्धिनश्चैकस्य द्वयोर्वा विनाशित्वेन विनाशित्वात् कार्यत्वम् । न ह्यस्ति संभवो गुणो वा गुणगुणिनौ वाऽवयवो वाऽवयवावयविनौ वा न स्तोऽप्यस्ति च तयोस्संबन्धः' इति । अतस्समवायस्य नित्यत्वमनुपपन्नमिति ।

श्रीभाष्यकृद्दूषणम्

अत्र श्रीभाष्यम्—[16]'नित्यमेव च भावात्' इति सूत्रव्याख्यानावसरे, [17]'समवायस्य संबन्धत्वात् संबन्धस्य नित्यत्वे संबन्धिनो जगतश्च नित्यमेव भावादसमञ्जसमिति' भगवद्रामानुजाचार्यैर्न्यगादि । एतद्भाष्यं श्रुतप्रकाशिकाचार्याः[18] 'संबन्धिविनाशविनाशित्वं संयोगे दृष्टमिति सम-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वायस्यापि संबन्धत्वादेव संबन्धिविनाशविनाशित्वोपपत्तेस्तन्नित्यत्वाय संबन्धिजगन्नित्यत्वं स्यात्' इति व्याचक्षाणा यथा सयोगस्य तत्संबन्धिनो नाशान्नाश इष्यते तथा समवायस्यापि संबन्धत्वस्वीकारेण तत्संबन्धिनाशान्नाश एष्टव्य इति तन्नित्यत्वं व्याहन्येतेति प्रत्यपादयन् । अत्र समवायः संबन्धिविनाशाधीनविनाशः संबन्धत्वात् संयोगवदित्यनुमानं विवक्षितम् ।

तर्कताण्डवकारदूषणम्

तर्कताण्डवकारा अपि[19] 'न हि संबन्धनाशेऽपि संबन्धिनः स्थितिवत् संबन्धिनाशेऽपि संबन्धस्थितिः कुत्रचिद् दृष्टा इति ग्रन्थेन पूर्वोक्तमाक्षेपमेव प्राचीकशन् । तथा समवायस्यैकतास्वीकारे वाय्वात्माकाशादावरूपेष्वपि स्पर्शादिसमवायसद्भावेन रूपसमवायस्याप्यपेक्षितत्वाद् रूपवत्ताप्रसङ्गः । तथा चेदं रूपवदिदं नीरूपमिति व्यवस्था भज्येतेति दूषणमप्यभ्यधुस्तर्कताण्डवे ।

उक्तदूषणानां परिहारप्रदर्शनम्

अत्रैवं प्रतिविधीयते-संबन्धिनाशे संबन्धनाश इति यदुक्तं तत् क्वचित् संबन्धिनाशेऽपि संबन्धनाशस्यादर्शनान्न जाघटीति । यथा पुत्रस्य पित्रा साकं पितृपुत्रभावरूपः संबन्धः संबन्धिनि पितरि नष्टेऽप्यनुवर्तते । अत एव नष्टेऽपि पितरि श्राद्धादिष्वधिकरोति ।

एवं समवायस्यैकत्वे रूपिनीरूपव्यवस्था न स्यादिति यत् तदपि दूरोत्सारितम् । वायौ रूपसमवाय-सत्त्वेऽपि रूपं नास्ति । अतो वायू रूपवानिति न प्रतीतिः । घटे तु रूपमप्यस्ति । अतो घटो रूपवानिति प्रतीतिर्भवति । अत्र तु निदानमधिकरणस्वभावो घटवाय्वो रूपिनीरूपप्रतीतिश्चेति मणिग्रन्थाशयः । अतो नोक्तदोषः प्रसजति ।

[20]'वायौ रूपसमवायसत्त्वेऽपि रूपात्यन्ताभावोऽस्ति न घटे । कथमेवम् । अधिकरणस्वभावात् । अबाधितरूपिनीरूपप्रतीतेश्च' इति मणिग्रन्थेन

परिमलोक्तं दूषणम्

अत्र पूर्वोत्तरमीमांसावल्लभा अप्पयदीक्षिताः कल्पतरुपरिमले समवायमेवं दूषयन्ति[21] । अभावस्य यथा प्रतियोग्यनुयोगिभ्यां सह संबन्धः

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्वरूपाख्यस्तथाऽवयवावयव्यादीनामपि स्वरूपसंबन्ध एवास्तु किं समवायेन ? गौरवात्। न च समवायपक्षे समवायस्तस्य संबन्धत्वं चेति द्वयमेव कल्पनीयम्। अवयवावयव्यादिषु संबन्धत्वकल्पने तेषामननुगतत्वेन क्रोडीकारकाभावात् संबन्धिभेदेनानन्तानि संबन्धत्वानि कल्पनीयानीति गौरवम्। तस्मात् समवायपक्ष एव लाघवमक्षतमिति वाच्यम्। समवायेऽपि निरूपकभेदेन संबन्धत्वभेदोऽङ्गीक्रियते न वा ? यद्यङ्गीक्रियते तदा समवायपक्षेऽपि तत्तन्निरूपकभेदप्रयुक्तनानासंबन्धत्वकल्पनाया अवश्यम्भावात् समवायाख्यधर्मिकल्पनाप्रयुक्तगौरवमधिकम्। यदि नाङ्गीक्रियते तदाऽवयवादिषु तत्तदभावसंबन्धत्वस्य क्लृप्तस्यैवानयव्यादि संबन्धत्वरूपताया अपि संभवेन संबन्धताया एकस्याप्यकल्पनेन गौरवाभावादिति।

परिमलदूषणप्रतिविधानम्

अत्रैवं प्रतिविधीयते— 'भूतलं घटाभाववत्' इत्यादौ स्वरूपसंबन्धस्थले संबन्धिनोर्मध्ये नैकस्य संबन्धत्वं विनिगमनाविरहात्। किं तु तदुभयसमुदायस्य व्यासज्यवृत्तिपरस्परप्रतियोगिकमेकमेव संबन्धत्वमभ्युपगम्यते। एवं चाभावाधिकरणादिस्वरूपद्वये संबन्धत्वस्य क्लृप्तत्वेऽप्यवयवावयव्यादिस्वरूपद्वये तन्न क्लृप्तम्। तथा च संबन्धत्वस्यापि कल्पनीयत्वाद् गौरवम्।

वस्तुतस्त्वेवमप्यक्लृप्तयोः समवायतद्गतसंबन्धत्वयोः कल्पनापेक्षयैकस्यावयवावयव्यादिस्वरूपद्वयगतस्य संबन्धत्वस्य कल्पने लाघवमिति शङ्कावसरं लभते। अतः प्रकारान्तरेण समाधातुं प्रयतामहे। अस्ति तावदयं घटोऽयं पट इति समूहालम्बनज्ञानादिमे घटा इति ज्ञानस्य प्रत्यक्षरूपस्य शाब्दरूपस्य वा वैलक्षण्यमानुभविकम्, न तदपह्नवमर्हति। तच्च समूहालम्बने विशेष्यताभेदेन प्रकारतानां भेदो, न त्विमे घटा इति स्वीकारेणैव निर्वहति। ततश्च तस्मिन्न् ज्ञाने नानाविशेष्यतानिरूपितैकैव प्रकारता। तन्निरूपिका च संसर्गता समवायस्वीकर्तृभिरेकैव स्वीकार्या। स्वरूपसंबन्धवादिभिस्तु तत्तद्व्यक्तिस्वरूपात्मक-विषयभेदाद् भिन्नैव संसर्गताः

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्वीकरणीया इति व्यक्तमिदं गौरवम्। एवं नीलाः पीता इत्यादिष्वपि बोध्यम्। एवमनन्तेषु भूतलादिस्वरूपेषु रूपादिप्रतियोगिकत्वकल्पनापेक्षयैकस्मिन् समवाये तत्कल्पनायां लाघवमक्षतमिति।

मणिकारसमाधानम्

मणिकारस्तु-यदि विशिष्ट-बुद्धेर्विशेषणविशेष्यसंबन्धविषयकत्वमिति नियमं स्वीकृत्य विशिष्टबुद्धिः विशेषणविशेष्यसंबन्धविषया इत्यनुमानेन समवायः साध्येत तदा तादृश-विशिष्टबुद्धिनिरूपितायाः संसर्गताख्यविषयतायाः समवाये स्वीकरणीयतया तस्याश्च निरूपकभेदेन भेदात् तत्कल्पनं समवायाख्यधर्मिकल्पनं चेत्यादयो दोषाः प्रसजेयुः। अतः 'गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेषणसंबन्धनिमित्तिका' इत्येवानुमानम्। कारणत्वेन सिद्ध्यंश्च संबन्धो लाघवादेक एव सिद्ध्यति। न च धर्मिकल्पनातो वरं धर्मकल्पनेति न्यायात् कारणत्वमपि क्लृप्तानामेव गुणादिस्वरूपाणामस्त्विति वाच्यमनुगतकार्यस्यानुगतकारणनियम्यत्वाद् गुणादिस्वरूपाणां चाननुगतत्वादित्याशेरते।

अत एव[22] 'इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समयायः' इति कणादसूत्रमपि विशिष्टबुद्धिहेतुत्वेन समवायसिद्धिमभिप्रैति। यतः स इति पदस्वारस्यात्। ततश्च कारणत्वेन समवाये सिद्धे तत्र निरूपकभेदेन नानासंबन्धत्वकल्पना प्रयुक्तगौरवमपि फलमुखगौरवस्यादोषत्वादिति न्यायेन न दोषमावहतीति मणिकृतामाशयः।

अयुतसिद्धत्वपरिष्कारः

अथेदानीमयुतसिद्ध्योराधाराधेययोरिहप्रत्ययहेतुः संबन्धः समवाय इत्यत्रायुतसिद्धत्वे नाम किमिति किंचिद् विवृणुमः।

तत्र प्रशस्तपादमतम्

अत्र प्रशस्तपादभाष्यम्—नित्ययोः संबद्धयोर्द्वयोः पदार्थयोः पृथग्गतिमत्त्वमन्यतरस्य वा गतिमत्त्वं युतसिद्धिः। यथा द्वयोः परमाण्वोः संयोगिनोः पृथग्गतिमत्त्वं, यथा वा परमाण्वाकाशयोः संयोगिनोर्मध्येऽन्यतरस्य परमाण्वोः पृथग्गतिमत्त्वं युतसिद्धिः। अनित्ययोः पृथगाश्रयाश्रित-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

त्वमेव युतसिद्धिर्यथा घटपटयोः। तथा च उक्तविधयुतसिद्धयभावोऽयुतसिद्धिरिति पर्यवस्यति। तथा चायं ग्रन्थः[23] 'सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वं पृथगाश्रयाश्रयित्वं च' इति। अत्र पृथगाश्रयाश्रयित्वमित्यनेन संबन्धिभ्यामन्योन्य आश्रयस्तदाश्रितत्वं विवक्षितम्। तथा च पटशौक्ल्ययोः पृथग्गतिमत्त्वमपि नास्ति पृथगाश्रयाश्रितत्वमपि नास्ति। यद्यपि पटस्याश्रयस्तन्तवः शौक्ल्यस्य पट इत्येवमाश्रयभेदो वर्तते, तथापि शौक्ल्यस्याश्रयभूतः पटः संबन्धो न तदन्य इति संबन्धिभिन्नाश्रयाश्रितत्वं नास्ति। तथा च न कोऽपि दोष इति।

न्यायकन्दलीकारमतम्

संबन्धिभिन्नाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिरित्यभिप्रायेणैव श्रीधराचार्या[24] 'यत्र तु द्वयोरपि संबन्धिनोः परस्पर-परिहारेण व्यतिरिक्ताश्रयाश्रयित्वं तत्र युतसिद्धिः' इत्यवोचन् न्यायकन्दलयाम्।

तत्र भामतीकारदूषणम्

तत्र भामती—[25]'अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा' इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यं विवृण्वाना भामतीकृतः 'यदि तु संयोगिनोः कार्ययोः संबन्धिभ्यामन्यदेशत्वं युतसिद्धिस्ततोऽन्यायुतसिद्धिः'[26] इति वैशेषिकमतमन्ववादिषुः। तथा चोक्तरीत्यायुतसिद्धत्वपरिष्कारे शाङ्करभाष्योक्तो दोषो न प्रसजति। अत एवोक्तरीतिमत्परिष्कारादरे शाङ्करभाष्योक्तदोषा न प्रसजन्तीत्यभ्युपगम्य समवायसिद्धौ दूषणान्तरं व्यधायि [27]'पृथगाश्रयाश्रयित्वपृथग्गतिमत्त्वलक्षणयुतसिद्धेरन्या त्वयुतसिद्धिः। यद्यपि नाभ्युपेतविरोधमावहति; तथापि न सामानाधिकरण्यप्रथामुपपादयितुमर्हति' इत्यादिना भामत्याम्। गुणगुणिनोर्यदि समवायः संबन्ध इत्यभ्युपगम्यते तदा घटपटौ संयुक्ताविितिवद् गुणगुणिनौ संबद्धाविति प्रत्ययः स्यात्, न तु शुक्लः पट इत्यादिर्गुणगुणिनोस्तादात्म्यविषयकः प्रत्ययो भवेत्। गुणगुणिनोस्तादात्म्य-विषयकप्रत्ययोपपादनाय हि समवायोऽभ्युपेयते भवद्भिः। स चेदभ्युपेतोऽपि तादात्म्यप्रत्ययं न घटयेत् किं समवायकल्पनयेति दूषणसारः।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तत्र समाधानम्

अत्रैवं प्रतिविदध्महे—यदि गुणगुणिनोरभेदः स्यात् तर्हि शुक्ल इति बुद्ध्यैव पटस्यापि विषयीकृतत्वात् पट इति बुद्धिरनवसरा स्यात्। किं च शुक्लशब्दपटशब्दयोरेकार्थत्वेन पर्यायतया तरुवृक्षशब्दवत् सहप्रयोगो न स्यात्। पटमानयेत्युक्ते यत्किंचिच्छुक्लमानयेत्, पटस्य शुक्लाभिन्नत्वात्। तथाऽशुक्लः पट इति प्रतीतिर्न स्यात् शुक्लाभिन्नपटे शुक्लभेदस्य बाधितत्वात्। तथाऽन्धस्य त्वगिन्द्रियेण पटोऽयमिति ज्ञानं यथा भवति तथा शुक्लोऽयमित्यपि ज्ञानं स्यात्। यद्वाऽन्धस्य शुक्लज्ञानं यथा न भवति तथा पटज्ञानमपि न भवेत्। अतो युक्तिविरुद्धत्वाच्छुक्लपटयोरभेदो नोपपद्यत इति युक्तिसहकृतं शुक्लः पट इति प्रत्यक्षं पटशुक्लयोर्भेदमेव बोधयति। सर्वमेतन्मनसि निधाय तात्पर्यटीकायां[28] 'शुक्लः पट इत्यादि सामानाधिकरण्यज्ञानं न तु संबन्धिज्ञानमिति चेत् ? किं पुनरिदं सामानाधिकरण्यम् ? तादात्म्यमिति चेन्न, द्वितीयबुद्धिव्यपदेशयोः पौनरुक्त्यात्। अपौनरुक्त्यं चाभिमन्यन्ते प्रतिपत्तारो, यदन्यतरदुपलभ्यान्यद् बुभुत्सन्ते' इति प्रण्यगादि। एवमेव परिशुद्धौ [29]'तर्कसहायं प्रत्यक्षमेव पटशुक्लत्वयोर्भेदमाकलयति' इत्यभ्यधायि। एवं [30]'तस्मान्नीलो घट इत्यत्र नीलसंबन्ध एव भासते। मतुपो लोपादभेदोपचाराद्वा' इति मणिग्रन्थोऽत्रानुसन्धेयः।

भामतोक्तं दूषणान्तरम्

एवमन्यदपि दूषणं भामत्यामुपलभ्यते समवायवादिनामुपरि। तथा हि—नित्ययोर्विभुनोश्चात्माकाशयोर्योजोऽनुत्पत्तिमान् संयोगस्तत्राप्ययुतसिद्धिर्वर्तते। निष्क्रिययोर्निराश्रययोश्चात्माकाशयोः पृथग्गतिमत्त्वरूपस्य पृथगाश्रितत्वरूपस्य वा युतसिद्धत्वस्याभावात्। तथा चामुतसिद्धयोस्तयोः संयोगेऽपि समवायलक्षणसत्त्वादतिव्याप्तिरिति। एतच्च[31] 'नित्ययोरात्माकाशयोरजसंयोग उभयस्या अपि युतसिद्धेरभावात्' इति ग्रन्थेन भामत्यां प्रत्यपादि।

तत्र समाधानम्

अत्रैवं समादध्महे—अयुतसिद्धयोराधार्याधारयोरिहप्रत्ययहेतुः संबन्धः समवाय इति हि लक्षणम्। आत्माकाशयोरुक्तरीत्याऽयुतसिद्धयोरप्याधाराधेयभावविरहान्नातिव्याप्तिः।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विभुद्वयसंयोगनिराकरणम्

किं च विभुपदार्थयोः संयोगस्यैवानभ्युपगमान्न कोऽपि दोषः। न च विभुद्वयसंयोगस्यानुमानमेव मानमाकाशमात्मसंयोगि मूर्तद्रव्यसंयोगित्वादिति वाच्यं निष्क्रियत्वान्नित्यत्वाच्च। संयोगजान्यतरकर्मजोभयकर्मजरूपत्रिविधस्यापि संयोगस्यानुपपत्तेस्तत्र। अत एव न्यायकन्दल्याम्[32] 'अस्ति च तेषां संयोग आकाशममूर्तेनापि द्रव्ये समं संयुज्यते मूर्तद्रव्यसंयोगित्वात् पटवदित्यनुमानात् प्रतीतेः। स चाकारणान्नित्यं तस्मादनुपपन्नमिदम्। अजस्संयोगो नास्तीति' इति विभुद्वयसंयोगो निराकारि।

[33]नीतितत्त्वाविर्भावविमर्शः

एतेन विभुद्वयसंयोगप्रतिपादनपरनीतितत्त्वाविर्भावाजसंयोगवादो ऽनुपपन्नत्वान्निरस्तः।

न्यायमतानुगाः प्राभाकरा इति निरूपणम्

एतावता नैयायिकैर्वैशेषिकैर्वा प्रसाधितोऽयं समवायः प्राभाकरैरपि तथैवान्वसारीत्यत्र न कापि विप्रतिपत्तिर्दार्शनिकानाम्। तथाहि—[34]'इहेदमिति यतः कार्यकारणयोस्ससमवायः' इति हि काणादं सूत्रम्। सूत्रमिदं प्रशस्तपादैः[35] 'अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानां यस्संबन्ध इहेतिप्रत्ययहेतुस्स समवाय' इति व्यवारि। इदमेव विचिन्वानः शालिकाचार्यः[36] 'प्रतीत्य ह्याधारमाधेयं च संबन्धं प्रतीयात्' इति न्यरूपयत्।

अपि च पृथग्गतिमत्त्वं पृथगाश्रयाश्रितत्वं च युतसिद्धिस्तद्विपरीताऽयुतसिद्धिरिति प्रशस्तपादोऽभ्यधात्। प्रकरणपञ्चिकाव्याख्याता नारायणोऽप्येतदेव पक्षं न्यायसिद्धौ सविस्तरमुपास्थापयत्। एवं गुणगुणिनोर्भेदो यथा न्यायवैशेषिकग्रन्थयोर्निरूपितस्तथैव गुरुमतानुगैरपि स्वीकृतः। तदाह प्रकरणपञ्चिकाकारः[37]—'इयं च भेदसाधने युक्तिरन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि वस्त्वन्तरमवसीयतेऽवगम्यमानोऽपि चावयवी विलक्षणबुद्धिगोचरतामावहत्येन' इत्यादिग्रन्थेन। अवयवाद् भिन्नोऽवयवी, तदनुपलम्भेऽप्युपलभ्यमानत्वात्, कुड्यघटवदवयवी भिन्नस्तेषां बहुत्वे सत्येकत्वेनाबाधितप्रत्ययवेद्यत्वात् स्थूणासु वंशवदित्याद्यनुमानमत्र विवक्षितम्। अत एवं प्रतीमो गुरुमतस्थ समवायराद्धान्ते वैशेषिकमतमेव मूलमिति।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

परं तु गुरुमतानुयायिनः समवायस्य नानात्वं नित्यगतस्य नित्यत्वमनित्यगतस्यानित्यत्वमिति च वर्णयन्ति। तदाहुः—[38]'समवायं च न वयं काश्यपीया इव नित्यमुपेमः' इति।

गुरुमताभिमतसमवायनानात्वनिराकरणम्

तदेवं निराक्रियते। समवायो नित्य एकश्च। तदाह कणभक्षः[39] 'तत्त्वं भावेन' इति। अयं भावः—तत्त्वं नाम तद्व्यक्तित्वमेकमात्रव्यक्तिकत्वमिति यावत्। यथा द्रव्यं सद् गुणस्सन् कर्म सदित्येकाकारप्रतीतिविषयत्वान्नानात्वसाधकप्रमाणाभावाल्लाघवाच्चैकैव सत्ता, तथा घटः समवेतः पटः समवेत इत्याद्यनुगतप्रतीतिविषयत्वाद् भेदकप्रमाणाभावाल्लाघवाच्च समवायोऽप्येक एवेति सिद्धम्। स च नित्यः। तस्योत्पादविनाशयोः प्रमाणाभावात्, तत्कल्पने कल्पनागौरवात्। किं च समवायस्यैकत्वेन तन्नाशाभ्युपगमे तन्नाशदशायां नित्ये द्रव्ये द्रव्यत्वादेः विशिष्टानुभवानुपपत्तेश्च।

लघुमञ्जूषाखण्डनम्

यत्तु गुणगुण्यादीनां भेदं समवायस्यातिरिक्तपदार्थत्वं च स्वीकृत्य

'[40]समवायोऽपृथग्भावो द्रव्यादीनां[41] गुणैर्मतः।
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः॥'

इति चरकवाक्यं प्रमाणतयोपादाय नित्यद्रव्यतद्गुणयोः समवायो नित्यः। अन्यत्र नित्य इति समवायानेकत्वं स्वीकृतं नागेशभट्टेन। तदपि पूर्वोक्तदिशा निराकृतम्।

उपसंहारः

विदितमेतद् दार्शनिकानां यन्न्यायसूत्रभाष्यवार्तिकादौ समवायमधिकृत्य किंचिदपि नासूच्यपि तु तात्पर्यटीकापरिशुद्ध्यादौ प्रास्तावीति। अत एव प्राचीनन्यायग्रन्थेषु किं बहुना मणिग्रन्थात् प्राचीनग्रन्थेषु समवायो नाभ्यधायि। तत्रेदम्प्रथमतया गङ्गेशोपाध्यायेनैव तत्त्वचिन्तामणिग्रन्थ समवायवादाख्यं प्रकरणमेकं विधायानितरसाधारणैर्युक्तिगणैः सम-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वायो न्यरूपोत्येतदतिरोहितं विदितप्राच्यनव्यन्यायग्रन्थानाम् । एतेषामपि वैशेषिकदर्शनमेवात्र प्रमाणभूतमित्यत्र न कापि संशीतिः ।

समवायसिद्धान्तोपर्यापातदूषणानि दुदूषयिषामात्रेण कैश्चित् तैर्थिकैः प्रत्यपादिषत । तेषु केषाञ्चन परिहारं वयमेव पूर्वं प्रादीदृशाम । अवशिष्टान्यपि मणिदीधित्यादिग्रन्थाभ्यासजनितवासनावासितान्तःकरणैः सुलभं समाधेयानीति विस्तरभिया नेह प्रतन्यते ।

---

1. वैशेषिकसूत्रम् 7-2-26
2. उपस्कारः 7-2-26
3. वैशेषिकसूत्रम् 4-1-13
4. ,, 9-1-15
5. ,, 9-1-14
6. ,, 10-2-3
7. ,, 10-2-4
8. ,, 7-2-28
9. तत्त्वचिन्तामणिः 651
10. शाबरभाष्यम्
11. वैशेषिकसूत्रम् 7-2-28
12. प्रशस्तपादभाष्यम् 782
13. शाङ्करभाष्यम् 521
14. ब्रह्मसूत्रम् 2.17
15. भामती 512
16. ब्रह्मसूत्रम् 2-2-13
17. श्रीभाष्यम् 510
18. श्रुतप्रकाशिका पृ० 510
19. तर्कताण्डवम् 478
20. तत्त्वचिन्तामणिः 673
21. कल्पतरुपरिमलः 511
22. वैशेषिकसूत्रम् 7-2-26
23. प्रशस्तपादभाष्यम् 360
24. न्यायकन्दली 362

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

25. ब्रह्मसूत्रम् 2-2-17
26. भामती 518
27. „ „
28. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका I-1-4
29. तात्पर्यटीकापरिशुद्धिः 1-1-4
30. तत्त्वचिन्तामणिः पृ० 680
31. भामती 518
32. न्यायकन्दली 362
33. नीतितत्त्वाविर्भावः पृ० 64
34. वैशेषिकसूत्रम् 7-2-26
35. प्रशस्तपादभाष्यम् पृ० ३७
36. प्रकरणपञ्चिका पृ० 94
37. „ पृ० 85
38. „ पृ० 92
39. वैशेषिकसूत्रम् 7-2-28
40. चरकसंहिता 1-50
41. भूम्यादीनामिति पाठान्तरम् ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सांख्यशास्त्रीया आधुनिकविज्ञानाभिमताः केचन सिद्धान्ताः

—डा० सुद्युम्नाचार्य

दर्शनशास्त्रेषु सांख्यशास्त्रदमद्यापि समं चकास्ति। सर्वेऽपि जना आदेवमानुषं दार्शनिकतत्त्वज्ञानाय सांख्यशास्त्रे नामं नामं सम्मानं विदधति। पारमर्षमिदं ज्ञानं प्रतियुगमप्रतिहतमिति शंकराचार्यप्रभृतिभिः स्मर्यते[1]। प्राचि प्रचलितास्ते सांख्यशास्त्रोक्ताः सिद्धान्ता आधुनिके वैज्ञानिके युगेऽपि समं प्रथन्ते। अद्यत्वे बहुविधैः प्रयोगैः परीक्षिताः सुस्थापिताश्च वैज्ञानिकाः सिद्धान्ताः सांख्यं शास्त्रं संवदन्तीति कस्य नास्ति सुखावहमाश्चर्यम् !! लेखेऽस्मिन् कतिपय आधुनिकविज्ञानसंवादिसिद्धान्ताः संक्षेपेणोपवर्ण्यन्ते।

१. प्रकृतेर्वैषम्येण जगतः सर्गः

जगतः सर्गकारणविषये दार्शनिकेष्वनेके प्रवादाः प्रचलिता दृश्यन्ते। वेदान्तदर्शने हि "तस्येश्वरस्येक्षणमात्रेणैव जगदुत्पन्नमि"ति महता सम्भारेणोपवर्ण्यते। "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये"त्यादीनि बहूनि सर्वज्ञेश्वरकारणपराण्यौपनिषदानि वाक्यानि तत्रोदाह्रियन्ते।

सांख्यदर्शने तु "प्रकृतेर्वैषम्येण जगतः सर्ग" इत्याधुनिकविज्ञानसंवादिनयो घण्टापथमुपयाति। तथा हि "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" (सांख्यसूत्रम् १।६१) इत्यादिसूत्रेण प्रकृतिः साम्यावस्थायां न कस्यचिदुत्पाद इति ध्वनितम्। 'साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम्' (सांख्यसूत्रम् ६।४२) इति सूत्रेण तु प्रकृतेर्वैषम्येण जगतः सृष्टिरिति मुक्तकण्ठमुपवर्णितम्।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

एवं यदा प्रकृतेर्गुणा न्यूनाधिकभावमापन्नाः गुणप्रधानभावं भजन्तेऽथ च तेन भावेनोपमर्द्योपमर्दकभावो वरीवृत्यते तदैव जगत्सर्गो भवति[२]। एवं च न्यूनाधिकभावे सति परस्परमुपमर्दयन्तस्ते गुणा असंख्यान् विकारानाविर्भावयन्ति।

कापिलस्सिद्धान्त एष आधुनिकविज्ञानं संवदति। तस्मिन् सिद्धान्ते पदार्थेषु क्रिया, क्रियातश्च विकाराणां सृष्टिर्घातप्रतिघातादिभिर्व्याख्या-यते। घातप्रतिघातादित्वं च वैषम्यकारणकमेवेत्यतो वैषम्यं सिद्धं भवति।

अणु परमाणुष्वाकर्षणं विकर्षणं वा स्यात् तरङ्गेषु च संकोचः प्रसारो वा। सर्वत्र वैषम्यस्यैव स्वाराज्यं दृश्यते केवलम्। ऋणावेशिता धनावेशिताश्चाणवः परस्परं वैषम्यं प्राप्ता विकर्षणादिकं विदधते। अण्वादिगतीनां सर्वमपि रहस्यमस्मिन् वैषम्ये समाविष्टम्। जले वीचितरंगन्यायो, धनुषश्च ज्यायां, "पेंडुल"मित्याख्ये द्रव्ये च तरङ्गगति-र्वैषम्येणैव सम्पद्यते। यदैव तत् "पेंडुलम्" (Pendulum) साम्यावस्थामुप-याति, तदैव क्रियाया अभावस्तत्र सम्पद्यते। भौतिकविज्ञाने बह्व्यो गतयस्तरङ्गगतिभिरेवं च वैषम्येण व्याख्यायन्ते। न्युटनमहोदयस्य गतेस्तृतीये नियमे क्रियाप्रतिक्रियानियमस्य वर्णनं वैषम्यस्यैव व्याख्यान-मिति नास्त्यविदितम्। किमपि द्रव्यं वेगेनाभिहतं वैषम्यप्राप्तं तथैव प्रतिक्रियां विधत्त इति वस्तुतो वैषम्यसिद्धान्तस्यैव विस्तरः।

अद्यत्वे विज्ञानस्य विभिन्नासु शाखासु वैषम्यं विरोधो वा (Contradiction) विविधानां क्रियाणां कारणरूपेण व्याख्यायते[३]। अत एव वैषम्येण जगतः सर्ग इति सर्वथाऽवदातम्।

२. दिने चन्द्रतारकाः कथं विलुप्यन्ताम्

एवमुदिते सूर्ये आकाशमण्डिताश्चन्द्रतारकाः क्व विलुप्यन्त इति प्रश्नस्य समाधानाय विज्ञानसंवादिसिद्धान्तः सांख्यशास्त्रे प्राप्यते। पुराकाले तु तथ्यमप्रतिपन्ना जना घटनामिमां दृष्ट्वाऽचित्रीयिषतावादिषु-रचैवम् "क्व दिवा भृशा भवन्ति"

—पाणिनीये ३.१.१२ सूत्रे महाभाष्य-प्रोक्तमुद्धरणम्

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

"ये रात्रौ भृशालोकाश्चन्द्रतारकास्ते दिवसे क्व गच्छन्तीति हि तस्यार्थः।"

आलोके सति वस्तूनि सम्यग् दृश्यन्ते। चन्द्रतारकास्तु दिने, महति सूर्यालोके प्रतीपं भजन्तो दृष्टि-पथान्निरुध्यन्त इति सत्यमाश्चर्यंचमत्कार आसीत्तदानीम्।

सांख्यं शास्त्रन्तु रहस्यमदः सहजं समुदघाटयत्। तत्र चक्षुषा पदार्थस्यानुपलब्धेरष्ट कारणान्यञ्जसा समुपदर्शितानि[4]। तेष्वन्यतमं कारणं वर्तते—"अभिभवात्"। अर्थममुं व्याचक्षाणस्तत्त्वकौमुदीकार एवं प्राह,

"अभिभवाद् यथाऽह्नि सौरीभिर्भाभिरभिभूतं ग्रहनक्षत्रमण्डलं न पश्यति" (सांख्यतत्त्वकौमुदी श्लोके)

एतेन सिद्ध्यत्येवं यत् सौर्येण प्रकाशेन मन्दप्रकाशाश्चन्द्रतारका अभिभूयन्ते, न तु विलुप्यन्ते। यथा सर्वरात्रं ध्वान्तं ध्वंसयन् शोभनार्चिष्कः प्रदीपोऽपि सूर्य उदिते विगतप्रभः सम्पद्यते। चन्द्रतारकयोर्लुप्तप्रभत्वं च कथाया एतस्या नातिभिन्नम्।

एवं तृणप्रचये विनिहितास्तृणसदृशेन हरितेन वर्णेनोपरञ्जिताः कीटा अपि स्वविरोधिकीटानामक्षणः परमुपयान्ति। वस्तुतस्समानहरित-वर्णैरभिभूतास्तेऽन्तरीयन्ते, तेषां बलवत्कीटानां मृत्युमुखात् प्रमुच्यन्ते च। अत्राभिभाव्यत्वं नाम समानवर्णप्रभवम्। एवं बलवत्प्रकाशवता सूर्येण प्रदीपो गाढवर्णवता तृणेन च तत्समानाल्पवर्णोपरञ्जितः कीटोऽभिभूयते, दृष्टिपथाच्च विलुप्यत इति सर्वमवदातम्।

३. अग्नेरूर्ध्वज्वलनं कथं सम्पद्यताम्

"अग्निः कथं ज्वलति, कथं च स ऊर्ध्वं व्रजती"त्यप्यासीत् प्राचि प्रचलितः प्रश्नः। सर्वाणि वस्तून्यधः पतन्त्यग्निस्तु दिवं गन्तुकाम इवोर्ध्वं व्रजति। अस्यापि प्रश्नस्य समाधानाय महाभाष्यकारः पुरा प्रशंसितं वाक्यमिदमुदाजहार,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

"ज्योतिषो विकारोऽचिराकाशदेशे सुप्रज्वलितं नैव तिर्यग्गच्छति, नार्वागारोहति । ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः" ।

—पाणिनीये 1.1.50 सूत्रे महाभाष्यम् ।

सर्वाणि वस्तूनि स्वप्रकृतिद्रव्यं प्रति गन्तुमुत्सहन्ते । एवं पार्थिवाप्यानि द्रव्याण्युपरि क्षिप्तान्यपि पृथिवीं, जलं च स्प्रष्टुमधो व्रजन्ति । अग्निस्तु मूलतो दिवः प्रभूतस्तत्रैव वासं कल्पयितुमूर्ध्वं व्रजति ।

परं नैतन्मतमाधुनिकविज्ञानविचक्षणानां चेतसि चमत्कारमाविष्करोति । अग्नौ नास्ति चित्तं, येन स कंचन प्रेमाणं वा द्वेषं वा विदधीत । स तु विशुद्धं भौतिकशास्त्रनियममनुसरन् क्रमते । नियमोऽयं सांख्यतत्त्वकौमुद्यामेवं प्राकाश्यत

"तत्र कार्योद्गमने हेतुर्धर्मो लाघवं, गौरवप्रतिद्वन्द्वि, यतोऽग्नेरूर्ध्वज्वलनं भवति । तदेव लाघवं कस्यचित्तिर्यग्गमने हेतुर्भवति, यथा वायोः" ।
(सांख्यतत्त्वकौमुदी श्लोकः १३)

एतद्धि वस्तुतो विज्ञानसंवादि कथनम् । लाघवाद् वस्तून्युपरि गच्छन्ति, गौरवाच्चाधः पतन्ति । अग्नेर्लघुत्वं वायोर्लघुत्वादधिकतरम् । अतो वायुरग्निं पीडयितुं न क्षमते । एवं च केनाप्यपीडितोऽग्निरूर्ध्वं व्रजति । अग्निसमीपस्थो वायुरप्यूष्मताप्रभावाल्लघुः सम्पद्यते । अत एव सोऽप्युपरि व्रजति । अन्यत्र स्थितो गुरुवायुस्तु तस्य स्थानपूरणाय तत्र सत्वरं व्रजति । एवं वायोर्गमनागमनविधयाग्निं परितः करीषंकषा वात्या परिचालिता भवति । महत्यग्निव्यूहे महता वेगेन समन्ताद् वायुप्रचलनस्यास्त्येतदेव कारणम् ।

एवं वायोस्तिर्यग्गमनमपि लघुताहेतुकम् । निदाघकाले सूर्योष्मविधया वायोरणवो विच्छिन्ना असंहता वा सम्पद्यन्ते । एवमसंहतो वायुर्लघुर्भूत्वोपरि व्रजति । तस्य निवातस्थानस्य परिपूरणायान्यत्र स्थितो गुरुवायुर्वेगेन निवातप्रदेशं प्रति गच्छति । एवं च वायोरूर्ध्वगमनं तिर्यग्गमनं च सम्पद्येते । सर्वमपीदं गमनं लघुताप्रभवम् ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अद्यत्वे "गुब्बारा"-मध्ये वायोरपि लघुतरो "गैस" इत्याख्यो वायुः परिपूर्यते। एवं लघुभूतोऽसौ गुरुभूतं वायु विस्थापयन्नूर्ध्वं गन्तुमुत्सहते। अतस्सुष्ठूक्तं विदां वरेण सांख्यकारेण यल्लाघवाद्धेतोर्वाय्वग्नी ऊर्ध्वं व्रजतः।

संदर्भ—

1. कपिलप्रभृतीनां चार्षं ज्ञानमप्रतिहतं स्मर्यते —वेदान्तसूत्रे शांकरभाष्यम्। 2.1.1
2. समुदयश्च गुणानां न गुणप्रधानभावमन्तरेण सम्भवति, न च गुणप्रधानभावो वैषम्यं विना, न च वैषम्यमुपमर्द्योपमर्दकभावादृते···

   —सांख्यतत्त्वकौमुदी 16 (श्लोके)
3. The real universe is full of contradicitions—the contradiction of attraction and repulsion studied by physics, of the association and dissociation of atoms studied by chemistry, of the process of life and of the relationship of organism with enviroment studied by biology. —Dialectical materialism p. 86
4. अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
   सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च।

   —सांख्यकारिका 7 (श्लोकः)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अलङ्कारशास्त्रस्य व्याकरणादि-शास्त्रान्तरैः सम्बन्धः

—डॉ० के. गायत्री देवी

संस्कृतवाङ्मयेऽलङ्कारशास्त्रं व्याकरणाद्यङ्गषट्कापेक्षयाऽतिरिक्तं सप्तमं वेदाङ्गमिति परिगण्यते। आन्वीक्षिक्यादिविद्यानिष्यन्दरूपमलङ्कार-शास्त्रमान्वीक्षिकी-त्रयी-वार्ता-दण्डनीतिरूपचतुर्विद्यातिरिक्तं सत् पञ्चमी विद्येति परिकीर्त्यते। अत्र तत्रभवतो राजशेखरस्य वाक्यानि परिशीलन-मर्हन्ति—

उपकारत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद् वेदार्थानवगतेः।

पञ्चमी साहित्यविद्येति यायावरीयः। सा हि चतसृणां विद्यानां निष्यन्दः।

सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदश काव्यविद्यास्थानमिति यायावरीयः।[1]

चतुर्दशाष्टादशप्रस्थानभिन्नानां विद्यानां सहभावात्मकमलङ्कार-शास्त्रं साहित्यशास्त्रमिति व्यपदिश्यते। अलङ्कारशास्त्रं काव्यस्वरूपगुण-दोषालंकारविवेचनपुरस्सरं काव्यसौन्दर्ये व्युत्पत्तिमादधाति। काव्यसौन्दर्य-विवेचनपराणामालंकारिकाणां सर्वेषां शास्त्राणां परिशीलनमपेक्षितमा-पतति। इत्थं काव्यसौन्दर्यविवेचकस्यालङ्कारशास्त्रस्य व्याकरणादि-शास्त्रान्तरैः सह निकटः संपर्कोऽवश्यमपेक्ष्यते।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अलङ्कारव्याकरणशास्त्रयोः सम्बन्धः

अलङ्कारशास्त्रस्य व्याकरणशास्त्रेण सह संबन्धः सन्निहितः। आलंकारिकाणां ध्वनिर्व्यङ्ग्यो वा वैयाकरणानां स्फोटेन समानो वर्तते। ध्वन्यालोक आनन्दवर्धनाचार्येण प्रतिष्ठापितो ध्वनिसिद्धान्तो वैयाकरणानां स्फोटवादेन प्रभावितो दृश्यते। स्फुटत्यस्मादर्थ इति स्फोट इति व्युत्पत्त्या प्रवृत्तः स्फोटसिद्धान्तोऽनश्वरशब्दसिद्धान्तो वर्तते।

अवङ् स्फोटायनस्य[2]

इत्यस्य पाणिनेः सूत्रस्याधारेण स्फोटसिद्धान्तः पुरातन इति कथयन्ति विमर्शकाः।

स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते[3]

इति स्फोटाभिन्नतया ध्वनिमङ्गीकुर्वन्ति वैयाकरणाः।

एतदेवालङ्कारिकैरङ्गीक्रियते। ध्वन्यालोके समासोक्त्याद्यलङ्कारापेक्षया ध्वनेर्भिन्नविषयत्वं प्रदर्शयतानन्दवर्धनेन "सूरिभिः कथित" इति ध्वनिलक्षणवाक्यांशं विशदयता

"सूरिभिः कथित इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः।
न तु यथाकथंचित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते॥

प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।[4]

इत्युपस्थाप्यते वृत्तिवाक्यम्। एतद्व्याकुर्वंस्तत्रभवाँल्लोचनकारोऽभिनवगुप्तपादाचार्यः प्रथितस्य वैयाकरणस्य भगवतो भर्तृहरेः

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इत्येतद्वाक्यमुद्धरति कथयति च

एवं घण्टादिनिर्ह्लादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः[5]

इति । मम्मटेनाप्युत्तमकाव्यलक्षणम्

"इदमिति काव्यम् । बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहार कृतः, ततः तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य" ।[6]

इति स्पष्टीक्रियते । अनेन वाच्यवाचकसंमिश्रशब्दात्मनः काव्यस्य ध्वनित्वमालङ्कारिकाणां संमतमित्यायाति । तथा च साहित्यशास्त्रे ध्वनिसिद्धान्तो वैयाकरणस्फोटवादमूलमिति वक्तव्यं भवति—

किं च शब्दानां सङ्केतितार्थे वैयाकरणमतमालंकारिका आद्रियन्ते । शब्दानां तदुपाधौ सङ्केत इति वैयाकरणानां मतमेव तत्र भवता काव्यप्रकाशकारेणोक्तम् ।

न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौर्गोत्वाभिसंबन्धात्तु गौरिति भर्तृहरिवाक्यम् ।

"गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः"[7]

इति पतञ्जलिवचनं च प्रमाणतयोपन्यस्यते ।

एवं शब्दीव्यञ्जनानिरूपण आलङ्कारिकैर्वैयाकरणानुमतान् संयोगादीनभिधानियामकत्वेनाङ्गीकुर्वन्ति ।

काव्यदोषप्रकरणे च्युतसंस्कारदोषमुपपादयन्तोऽलंकारप्रकरण उपमाप्रभेदान् निर्दिशन्तश्च मम्मटाचार्यप्रभृतय अलंकारिका वैयाकरणसिद्धान्तानङ्गीकुर्वन्ति । रीतिं काव्यात्मानं मन्यमानो वामनाचार्यः स्वग्रन्थे शब्दशुद्धिप्रकरणं संयोज्य वैयाकरणसिद्धान्तानुरोधेन महाकविप्रयोगाणां साधुत्वं विमृशति ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनेनैतद्वक्तुं शक्यते यदलंकारशास्त्रे व्याकरणशास्त्रस्य वर्तते महान् प्रभाव इति ।

अलंकारन्यायशास्त्रयोः संबन्धः

अलङ्कारशास्त्रं न्यायशास्त्रेणापि प्रभावितं दृश्यते । आलङ्कारिकाणां लक्षणाया नैयायिकानां लक्षणायाश्च सम्बन्धो महान् । पण्डितराजो जगन्नाथो लक्षणां "शक्यसम्बन्धो लक्षणा" इति लक्षयन् न्यायसिद्धान्तमनुसरति । व्यञ्जनावृत्तिं तिरस्कुर्वता प्रतिज्ञानुरोधेन ध्वनेरन्तर्भावमुपपादयता महिमभट्टेन

"अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।[8]
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥"

इति काव्यानुमानस्य चमत्कृत्याधानादनुमानान्तरवैलक्षण्यमुपस्थाप्यते ।

किं चालङ्कारिकैरङ्गीक्रियमाणोऽनुमानालंकारः प्रमाणालंकारवर्गश्च न्यायशास्त्रसिद्धान्तेन प्रभावितो वर्तते । तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वमिति लक्षितं सादृश्यमुपमालंकार औपम्यगर्भालंकारेषु च जीवातुतयाऽभ्युपगम्यते ।

वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।[8]

इति विश्वनाथेन वाक्यलक्षणे न्यायशास्त्रप्रसिद्धा योग्यतादिसिद्धान्ता अन्तर्भाव्यन्ते ।

एवं भरतमुनेर्

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः[10]"

इति रसनिष्पत्तिसूत्रं व्याकुर्वन्, शङ्कुकः सूत्रगतस्य "संयोगा"-दित्यस्य पदस्य गम्यगमकभावरूपादिति "निष्पत्ति"-रित्यस्य पदस्यानुमितिरिति चार्थमुपवर्णयति; विभावानुभावव्यभिचारिभिर्गम्यगमकभावरूपात् सम्बन्धात् नष्टे पक्षे, रसस्य साध्यस्य निष्पत्तिरनुमितिर्भवतीति सूत्रार्थमुपन्यस्यति । रूपकाद्यलंकारेषु शाब्दबोध आलंकारिका नैयायिका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इव प्रथमान्तमुख्य—विशेष्यकशाब्दबोधमङ्गीकुर्वन्ति । इत्थमलंकारशास्त्रं न्यायशास्त्रेणोपबृंहितमास्ते ।

अलंकारपूर्वमीमांसाशास्त्रयोः संबन्धः

वेदवाक्यानामर्थनिर्णये प्रवृत्तस्य मीमांसाशास्त्रस्यालंकारशास्त्रस्य च सम्बन्धो महान् । मीमांसायां विचाराः शास्त्रान्तरोपकारकाः । मीमांसकानां मतमनुसृत्यालंकारशास्त्रे रसस्योत्पत्तिवादः प्रचलति । तात्पर्याख्यां वृत्तिं मीमांसकैकदेशिभिः [भट्टमीमांसकैः] स्वीकृतामालंकारिकाः प्रायोऽङ्गीकुर्वन्ति । तथा च केचिदालंकारिकास्

"तात्पर्याख्योऽपि केषुचित्[11]"

इति कथयन्ति ।

"गङ्गायां घोषः" इत्यादौ शैत्यपावनत्वादिप्रयोजनविशिष्टतीरे लक्षणामाशङ्क्य निरस्यन्त आलंकारिकाः प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः, फलं तु प्रकटयतीत्यध्वरमीमांसकसिद्धान्तमनुसरन्ति ।

आलंकारिकैरङ्गीकृतोऽर्थपत्त्यलंकारः, परिसंख्यालंकारश्च मीमांसकाभिमतमर्थपत्तिप्रमाणं परिसंख्याविधिं च स्मारयतः ।

अलंकारवेदान्तशास्त्रयोः संबन्धः

अलंकारशास्त्रं वेदान्तेनातीव प्रभावितं दृश्यते । तथा हि—

रसगङ्गाधरकारोऽभिनवगुप्तपादमते रसं ब्रह्माभिन्नं वदन्

रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति[12]

[तैत्तिरीयोपनिषत्]

इति उपनिषद्वाक्यं प्रमाणीकरोति । अपि च तत्रैव स रसचर्वणां शाब्दीमपरोक्षात्मिकां चोपपादयति । एवमालंकारिकाः रसस्वरूपेऽभिनवगुप्ताचार्यमतमेव विशिष्याद्रियन्ते वेदान्तशास्त्रप्रभावश्चालंकारशास्त्रे सम्यग् वर्तत इति वक्तुं पार्यते ।

इत्थमलंकारशास्त्रं व्याकरणादिभिः प्रथितैः शास्त्रान्तरैः सह निकटं सम्पर्कं प्राप्य महीयत इत्यलं विस्तरेण ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संदर्भ

1. काव्यमीमांसा पृष्ठम् 7, 9-10
2. अष्टाध्यायी 6-1-123
3. वाक्यपदीयम् 1 अध्यायः-81 कारिका
4. ध्वन्यालोकः पृष्ठम् 265
5. ध्वन्यालोक-लोचनम् पृष्ठम् 270
6. काव्यप्रकाशः पृष्ठम् 8
7. *ID* 13-14
8 व्यक्तिविवेकः पृष्ठम् 1
9. साहित्यदर्पणः पृष्ठम् 31
10. नाट्यशास्त्रम् 5 (अध्यायः) पृष्ठम् 272
11. काव्यप्रकाशः पृष्ठम् 11
12 रसगङ्गाधरः पृष्ठम् 91

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विवाह एवं उत्तराधिकार के सन्दर्भ में कौटिलीय अर्थशास्त्र एवं स्मृतियों की दृष्टि : एक तुलनात्मक समीक्षा

—अभिराज डॉ. राजेन्द्र मिश्र

पुराणों, स्मृतियों, धर्मशास्त्रों, आर्षकाव्यों तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र में अनेक विषय उभयनिष्ठ हैं। परन्तु उनकी व्याख्याओं में दृष्टिकोण-सम्बन्धी प्रभूत अन्तर है। यह अन्तर कौटिल्य की कृति में बड़ी सरलता से देखा जा सकता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र निश्चय ही पारम्परिक धर्मशास्त्र से भिन्न है। वह विशुद्ध रूप से व्यावहारिक राजशास्त्र (एप्लाइड पॉलिटिक्स) है। अतएव कौटिल्य धर्मनिरपेक्ष दृष्टि से ही विषय-विवेचन करते हैं। उन्हें राजधर्म की कठोरता एवं निरंकुशता के प्रतिपादन में तिल भर भी संकोच नहीं है।

कौटिल्य को इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण परवर्ती युग में अर्थशास्त्र का तिरस्कार भी हुआ। महाकवि बाणभट्ट ने कादम्बरी में कौटिल्य की खुलकर निन्दा की और अर्थशास्त्र को 'नृशंस व्यवहार' की संज्ञा दी।[1]

वस्तुतः अर्थशास्त्र अपने ढंग की एक अनूठी कृति है। यह धर्मशास्त्र, स्मृति तथा पुराणादि से सर्वथा पृथक् एक अभिनव प्रस्थान है। इसीलिए पंचतंत्रकार ने इसे अपनी विद्या का प्रथम ग्रंथ स्वीकार किया है।[2] अर्थशास्त्र की अनेक पदावलियाँ अपने पारस्परिक कोश-सम्मत अर्थ से भिन्न हैं। इससे ग्रंथ की मौलिकता सुस्पष्ट हो जाती है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(1)

कौटिल्य, विवाह के अनन्तर ही समस्त सांसारिक व्यवहारों का प्रारंभ मानते हैं।[3] विवाह गार्हस्थ्य-वृत्ति की मूल आधारशिला है। प्रायः समस्त स्मृतिकारों ने गार्हस्थ्य को अन्य समस्त आश्रमों का आश्रय स्वीकार किया है जिससे कौटिल्य के उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है। जैसे वायु के आश्रय से समस्त प्राणी जीते हैं वैसे ही सारा संसार गृहस्थाश्रम-मात्र से पोषित होता है।[4] मनु के मतानुसार ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी–तीनों ही गृहस्थों द्वारा नित्य वेदार्थ-ज्ञान की चर्चा एवं अन्नदान से उपकृत होते हैं, अतएव गार्हस्थ्य ही समस्त आश्रमों में ज्येष्ठ है।

कौटिल्य के मत में जिन लोक-व्यवहारों की आधारशिला विवाह है उन व्यवहारों की व्याख्या हम अनेक स्मृतियों में पाते हैं। वसिष्ठ संहिता में कहा गया है कि स्वाध्याय, प्रजनन अर्थात् सन्ततिजन्मोत्सव अथवा यज्ञादि के अवसरों पर उपस्थित अतिथियों के प्रति सद्गृहस्थ ही प्रत्युत्थान (आदर-सत्कार)-आसन, शयन, कुशल-क्षेम एवं सूनृता आदि से लोकव्यवहार सम्पन्न करता है। जैसे समस्त नद-नदी समुद्र में ही संस्थित होते हैं, उसी प्रकार अन्य समस्त आश्रमी गृहस्थ में संस्थित होते हैं। गार्हस्थ्य-वृत्ति की प्रशंसा करते हुए वसिष्ठ कहते हैं—

गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः।
चतुर्णामाश्रमाणान्तु गृहस्थस्तु विशिष्यते॥
यथा नदी नदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितिम्।
एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥
यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षुकाः॥

—वसिष्ठसंहिता अ० 8

अभिज्ञानशाकुन्तल के द्वितीय अंक में कालिदास राजर्षि दुष्यन्त के सन्दर्भ में कहते हैं—'अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये।'

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गृहस्थाश्रम की सर्वभोग्यता का यह दृष्टिकोण कौटिल्य से ही प्रभावित प्रतीत होता है।[5]

प्राचीन आश्रम-व्यवस्था में विद्याध्ययन से लौटे स्नातक के लिए विवाह की अनुमति थी। विवाह की आवश्यकता कई दृष्टियों से थी। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि संस्कार द्वारा ही पति और पत्नी समवेत होकर एकात्मता प्राप्त करते थे।[6] दूसरा कारण यह था कि गार्हस्थ्य कर्म-प्रधान आश्रम है। उन कर्मों में भी यज्ञकर्म सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण है। यज्ञपुरुष के रूप में परिकल्पित भगवान् विष्णु ही एकमात्र पूर्ण-पुरुष हैं जब कि अकेला पुरुष अपूर्ण है। अपूर्ण पूर्ण की आराधना अथवा अन्विति संभव नहीं। अतएव शतपथ ब्राह्मण में स्पष्टतः कहा गया कि जो पत्नी-विहीन है वह यज्ञ का अधिकारी नहीं।[7] वैयाकरण पाणिनि भी यज्ञ में पति की सहचारिणी होने के कारण हो स्त्री को पत्नी मानते हैं।[8]

विवाह की इसी मूल भावना का उत्तरोत्तर विकास हमें परवर्ती साहित्य में मिलता है। गृहिणी को ही गृह का पर्याय मानना तथा अर्ध-नारीश्वर की परिकल्पना आदि उसके प्रमाण हैं। दक्ष संहिता में भी "पत्नीमूलं गृहं पुंसां यदि च्छन्दोऽनुवर्तिनी" कहा गया है। कन्या तथा वर के विवाह-प्रसंग में उनकी योग्यता तथा अवस्था के सन्दर्भ में स्मृतिकारों ने वृहत् विवेचन प्रस्तुत किए हैं। प्रायः समस्त स्मृतिकारों ने कन्या के पुष्पवती होने से पूर्व ही उसके विवाह का विधान प्रतिपादित किया है। यमस्मृति में कन्या की अवस्था का उल्लेख करते हुए कहा गया है:

प्राप्ते द्वादशमे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति।
मासि मासि रजस्तस्यरः पिता पिबति शोणितम्॥ २२॥
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥ २३॥

परन्तु इस सन्दर्भ में अर्थशास्त्रकार आचार्य कौटिल्य स्पष्टतः लिखते हैं कि 12 वर्ष की कन्या और 16 वर्ष का वर विधि अथवा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

राजाज्ञा की दृष्टि से प्राप्तव्यवहार अथवा वयस्क होता है। अतः यही उनकी विवाहोचित अवस्था स्वीकार की जानी चाहिए। इस राजाज्ञा का उल्लंघन करने पर वे दोनो दण्ड के पात्र हो सकते हैं—

द्वादशवर्षा स्त्री प्राप्तव्यवहारा भवति षोडशवर्षः पुमान्। अत ऊर्ध्वमशुश्रूषमाणायां द्वादशपणः स्त्रिया दण्डः पुंसो द्विगुणः।

—अर्थशास्त्र 3.59.3

विवाह के आठ प्रकार, स्मृतिकारों के ही समान कौटिल्य को भी मान्य हैं। कौटिल्य की दृष्टि में कन्या को वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर सुयोग्य वर को प्रदान करना ही ब्राह्म विवाह है।[9] परन्तु कौटिल्य इस विवाह में वर की योग्यता के विषय में मौन हैं जबकि मनु श्रुति तथा शील से सम्पन्न वर को आमंत्रित कर, कन्या देने के पक्षधर हैं।[10] बृहत्पराशर-संहिता में वर की योग्यता का कुछ महत्तर व्याख्यान है। पराशर ब्राह्म विवाह को वेधस विवाह कहते हैं। उनकी दृष्टि में जाति आदि तथा गुण से युक्त, साथ ही साथ पुंस्त्व-मण्डित वर को अलंकृत कन्या का दान करना ही वेधस विवाह है। पुंस्त्व का निर्णय करते हुए पराशर कहते हैं कि जिसका वीर्य जल में डूब जाए उसे पुमान् समझा जाए। जो इसके विपरीत हो उसे षण्ढ अथवा क्लीब माना जाए।[11]

विवाह के लिए किसी से कन्या की याचना करने के सन्दर्भ पुराणों में बिखरे पड़े हैं। महर्षि जरत्कारु, सौभरि, अगस्त्य तथा रुद्र ने सन्तति की कामना से कन्या की याचना की थी। कालिदास पूर्वमेघ में अमर-प्रार्थिता यक्ष कन्याओं का उल्लेख करते हैं।[12] इस प्रकार पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिए, पत्नी के रूप में, किसी कन्या की प्रार्थना अथवा याचना को अपमानजनक नहीं माना गया है। परन्तु महर्षि शंख की दृष्टि में ब्राह्म-विवाह का वैशिष्ट्य यही है कि इसमें कन्या को प्रयत्नपूर्वक याचित नहीं किया जाता, बल्कि कन्या वर को स्वयं अर्पित की जाती है।[13]

महर्षि गौतम की दृष्टि में ब्राह्म विवाह में वर की योग्यता है उसकी विद्या, चरित्र और बन्धु तथा शील से सम्पन्न होना।[14]

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कन्या और वर, सहधर्माचरण की प्रतिज्ञा कर जिस विवाह-बन्धन को स्वीकार करते हैं वह कौटिल्य की दृष्टि में प्राजापत्य है---सहधर्मचर्या प्राजापत्यः । प्राजापत्य का यही स्वरूप प्रायः स्मृतियों में भी मिलता है। मनु के अनुसार सहधर्माचरण का उपदेश कन्या का पिता देता है।[15] पराशर प्राजापत्य को विधि-विवाह कहते हैं। प्राजापत्य विवाह में उभय-पक्ष की सहमति होती है। वर कन्या की प्रार्थना करता है और कन्या का पिता प्रार्थना स्वीकार कर वर को कन्या प्रदान करता है। इस प्रकार यह ब्राह्म विवाह से भिन्न है। महर्षि शंख इसीलिए "प्रार्थितापप्रदान" को प्राजापत्य का लक्षण मानते हैं।[16] महर्षि गौतम की दृष्टि में भी प्राजापत्य वह विवाह है जिसमें वर तथा वधू के गठबंधन का मंत्र होता है--- "सह धर्मं चरताम्" अर्थात् तुम दोनो धर्म का आचरण साथ-साथ करो।

कौटिल्य तीसरे प्रकार के विवाह को आर्ष कहते हैं। इसमें वर से गाय का एक जोड़ा स्वीकार कर उसे कन्या प्रदान की जाती है गोमिथुनादानादार्षः । मनु का मत कौटिल्य से कुछ भिन्न है। वह एक जोड़ा अथवा दो जोड़ा गाय-बैल की चर्चा तो करते हैं, परन्तु मन की दृष्टि में यह आदान मात्र धर्म के लिए होता है न कि कन्या शुल्क के रूप में।[17] गौतम का मत कौटिल्य के ही अनुकूल है क्योंकि वह भी एक ही गोमिथुन की चर्चा करते हैं। महर्षि शंख भी 'आदायार्षस्तु गोद्वयम्' कहते हैं। परन्तु पराशर आर्षविवाह के संदर्भ में वर की अर्हता का भी उल्लेख करते हैं। उनकी दृष्टि में---

वराय गुणयुक्ताय विदुषे सदृशाय च ।
कन्या गोद्वयमादाय दीयेतार्षः स उच्यते ।।

---वृहत्पराशरसंहिता, अ० 4

यहां एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है। वह यह कि कन्या के पिता को गाय का एक जोड़ा देना क्या "कन्याशुल्क" नहीं है? और यदि वह कन्याशुल्क है तो फिर आर्ष विवाह को "आसुर-विवाह" से पृथक् कैसे माना जा सकता है? इसका समुचित उत्तर पराशर के टीकाकार माधवा-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

चार्य ने दिया है। वे कहते हैं कि---अनियतपरिमाणत्वं हि शुल्कलक्षणम् अर्थात् शुल्क उसे कहते हैं जिसका परिमाण अथवा मात्रा अनिश्चित है। ऐसा आसुर-विवाह में ही होता है। परन्तु आर्ष-विवाह में तो "गोमिथुन" एक नियत परिमाण है। न उससे कम की व्यवस्था है न अधिक की। फलतः गोमिथुन को 'शुल्क' नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार आर्ष-विवाह की मूल प्रवृत्ति आसुर-विवाह के सर्वथा विपरीत है।

वेदी पर बैठकर यज्ञ कराने वाले ऋत्विक् को जो कन्यादान किया जाता है उसे दैव विवाह कहते हैं, यह अर्थशास्त्रकार का मत है।[18] पराशर इसे देवक संज्ञा प्रदान करते हैं। दैव विवाह यज्ञ-प्रक्रिया के अन्तराल में ही सम्पन्न होता है। मनु "यज्ञ के सम्यक् रूप से वितत" होने तथा पराशर "यज्ञ के वर्तमान" होने की बात कहते हैं। पराशर के मन्तव्य में एक और सार्थक संकेत है। वे कौटिल्य तथा मनु की तरह किसी एक ऋत्विक् की चर्चा नहीं करते। उनके बहुवचनान्त "ऋत्विजः" प्रयोग से ध्वनित होता है कि यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों में जो विवाह की दृष्टि से योग्यतम होता था, उसी को कन्या प्रदान की जाती थी।[19] महर्षि गौतम भी कौटिल्य के समानान्तर अन्तर्वेदी की चर्चा करते हैं। अन्य किसी स्मृतिकार ने अन्तर्वेदी का उल्लेख नहीं किया है।[20]

कौटिल्य की दृष्टि में 'मिथस्समवाय' ही गान्धर्व विवाह की आधारशिला है।[21] मनु की गान्धर्व-व्याख्या[22] की तुलना में कौटिल्य की व्याख्या सतही प्रतीत होती है। वस्तुतः गान्धर्व-विवाह असह्य कामवेदना का प्रतिफल होती थी। वर तथा कन्या के अभिभावकों की सम्मन्त्रणा में अपेक्षित दीर्घ कालावधि तथा स्मरवेदना की भयावहता के कारण जब वर तथा कन्या एक दूसरे के प्रति विश्वस्त भाव से अर्पित हो उठते हैं तो उसे गान्धर्व विवाह कहा जाता है। कन्या तथा वर की परस्पर अनुरूपता तथा योग्यता के कारण, अभिभावकों तथा समाज द्वारा भी कालान्तर में इस विवाह को स्वीकार कर लिया जाता था। इस विवाह में अभिभावकों अथवा अग्नि के स्थान पर 'कामदेव' को ही साक्षी मान लिया जाता था।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मनु "गान्धर्व" को "मैथुन्य" तथा "कामसम्भव" मानते हैं। अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में कालिदास मनु के इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। दुष्यन्त के व्यवहार से सन्तप्त अनसूया काम को ही उलाहना देती हुई कहती है :

"काम इदानीं सकामो भवतु येनासत्यसन्धे जने सखी पदं कारिता।"

कामजन्य व्यथा का एकमात्र प्रशमनोपाय मैथुन है, यह भी कालिदास स्वीकार करते हैं उत्तरमेघ में।[23] शाकुन्तल में भी शकुन्तला के आतंक का वास्तविक कारण जानकर प्रियंवदा तथा अनसूया अनुकूल उपाय अर्थात् दुष्यन्त-शकुन्तला-समागम की व्यवस्था करती हैं।

पराशर ने गान्धर्व विवाह में "अन्योऽन्याभिलाष" को महत्त्व दिया है तो आचार्य शंख ने "मिथः समय" को।[24] मिथः समय का अर्थ है एक दूसरे के साथ प्रतिज्ञा बांधकर, परस्पर विश्वास अर्जित कर। दुष्यन्त ने भी एक ऐसा ही "समय" शकुन्तला से किया था:

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्ररशना चोर्वी सखी च युवयोरियम्॥

"मिथः समय" की व्यवस्था सम्भवतः वासनातुष्टिमात्र के लिए किए जाने वाले कामोपभोगों के परिहार के लिए थी। महर्षि कण्व अपने सन्देश में महाराज दुष्यन्त को उसी प्रतिज्ञा का स्मरण भी कराते हैं।[25]

महर्षि गौतम ने गान्धर्व विवाह में पहल का दायित्व कन्या को दिया है:

इच्छन्त्या स्वयं संयोगो गान्धर्वः।

परन्तु यह स्मृति-वाक्य नाट्यशास्त्र की इस व्यवस्था से प्रभावित प्रतीत होता है जिसमें नारी का अनुराग पुरुष से पूर्व दिखलाने का नियम बताया गया है। शाकुन्तल में तो दुष्यन्त ही शकुन्तला के प्रति सर्वप्रथम

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आकृष्ट होता है। यह बात और है कि व्यावहारिक स्तर पर सर्वप्रथम शकुन्तला ही दुष्यन्त को मदनलेख लिखती है।

आसुर-विवाह का संकेत आर्ष के सन्दर्भ में किया जा चुका है। कौटिल्य स्पष्टतः शुल्क (मूल्य) देकर कन्या को वरण करना आसुर विवाह मानते हैं। गौतम इसका समर्थन करते हैं। आचार्य शंख भी द्रविण के आदान को ही आसुर विवाह का हेतु मानते हैं।[26]

स्मृतियों के अध्ययन से आसुर-विवाह की मूलभावना का क्रमिक ह्रास परिलक्षित होता है। प्रारंभ में यह कन्याशुल्क प्रतीकात्मक तथा सामान्य ही रहा होगा। परन्तु अवान्तरकाल में यह अत्यन्त गर्हित "मौल भाव" बन गया।

मनुस्मृति में "स्वाच्छन्द्यात् प्रदानम्" की चर्चा है जिसका सीधा अर्थ यह है कि कन्याशुल्क के सन्दर्भ में कोई जोर-जबरदस्ती नहीं थी। लोग स्वच्छन्दतापूर्वक कन्या के पिता को धन-द्रव्य से सन्तुष्ट करते थे। मनु न केवल कन्या के माता-पिता को बल्कि उसके सगे-सम्बन्धियों को भी धन से सन्तुष्ट करने की बात कहते हैं।[27]

परन्तु पराशर-स्मृति में इसका एक भयावह चित्रण मिलता है। कन्याशुल्क की परम्परा एक बिन्दु पर पहुंचकर अत्यन्त गर्हित तथा कदर्थित सामाजिक प्रवृत्ति बन गई जिसे हम "कन्याविक्रय" कह सकते हैं। कन्याओं को प्रतिस्पर्धी मूल्यों पर बेचा जाने लगा। पराशर आसुर को "दैवत्य विवाह" कहते हैं जिसका रहस्य तो स्पष्ट नहीं है, परन्तु उनकी व्याख्या से स्पष्ट है कि कन्या का पिता कभी-कभी कन्या का ऊँचा शुल्क वसूल करता था।

एतावद् देहि मे द्रव्यमित्युक्त्वा प्राक् प्रदाय च।
यत्र कन्या प्रदीयेत स दैवत्यविधिः स्मृतः॥

कात्यायन ऐसे विवाह की घोर निन्दा करते हैं और कहते हैं क्रय-क्रीता कन्या पत्नी तो हो ही नहीं सकती। न उसके साथ यज्ञ-कर्म और न

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हो कोई पितृकर्म सम्पन्न किया जा सकता है।[28] मनु भी अपत्य-विक्रय के विरोधी हैं।[29]।

आचार्य शंख युद्ध में अपहृत कन्या को पत्नी बना लेना ही राक्षस विवाह मानते हैं: राक्षसो युद्धहरणात्।

गौतम भी बलपूर्वक किसी कन्या को छीनकर पत्नी बना लेना राक्षस-विवाह मानते हैं--प्रसह्यादानाद् राक्षसः।

कन्यापहरण निश्चय ही कोई प्रशस्त परम्परा नहीं थी। ऐसा प्रायः विवशता की परिस्थिति में ही होता था। रुक्मिणी की इच्छा (प्रणयभाव) जानकर द्वारकाधीश कृष्ण ने विवश होकर ही उसका अपहरण किया था क्योंकि रुक्मिणी का भाई रुक्मी उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध चेदिनरेश शिशुपाल को देना चाहता था। इस विवशता का संकेत हमें पराशर-स्मृति में प्रयुक्त 'अस्थित्या' शब्द से मिलता है—

युद्धे हृत्वा बलात्कन्यां यत्राऽस्थित्याय इत्यृचा।
उह्यन्तु स तु विद्वद्भिर्विवाहो राक्षसः स्मृतः॥

परन्तु आसुर विवाह के "कन्याशुल्क" की ही तरह अपहरण की यह प्रवृत्ति भी कभी-कभी पाप एवं अन्याय की पराकाष्ठा पर पहुँच जाती थी। कन्या की इच्छा से उसका अपहरण तो हम पौराणिक रुक्मिणी तथा सुभद्रा उपाख्यानों में पाते हैं, परन्तु कन्या की इच्छा के विपरीत भी ये अपहरण होते थे। भीष्म ने काशिराज की कन्याओं का अपहरण उनकी इच्छा के विरुद्ध ही किया था। मनु ने निन्दा के स्वर में राक्षस-विवाह का लक्षण प्रस्तुत किया है—

हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते॥

3.33

कौटिल्य इतने विस्तार में न जाकर बलपूर्वक कन्या छीन लेना ही राक्षस-विवाह मानते हैं।[30] "प्रसह्यादान" शब्द में समस्त राक्षसवृत्तियां समाहित हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सोई हुई कन्या को उठा लाना और उससे यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेना ही कौटिल्य की दृष्टि में पैशाच विवाह है।[31] शंख छलपूर्वक किसी कन्या को पत्नी बना लेना पैशाच विवाह मानते हैं।[32] गौतम की दृष्टि में असंविज्ञान के साथ उपसंगम ही पैशाच विवाह है।[33] असंविज्ञान का तात्पर्य सम्भवतः यहाँ उन्मत्तता या प्रमत्तता से है, क्योंकि मनु एवं पराशर दोनो ने ही उसी तथ्य पर विशेष बल देते हुए ऐसे विवाह को "पापिष्ठ" की संज्ञा दी है :

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥

—मनु०

सुप्तां वापि प्रमत्तां वा कन्यां छलेन भुज्यते ।
सर्वेभ्यः स तु पापिष्ठः पैशाचः प्रथितोऽष्टमः ॥

—परा०

स्मृतिकारों की तरह कौटिल्य विवाह के सन्दर्भ में अतिशय श्रद्धा अथवा भावनात्मक संवेग से काम नहीं लेते। विवाह को एक सामाजिक परम्परा स्वीकार करते हुए वह बस इतना कहते हैं कि विवाह की आधार-शिला है उभयपक्षीय प्रेम।[34] इसी प्रेम के अभाव में विवाह टूट भी सकते हैं। विवाह को आधार-शिला सम्बन्धो कौटिल्य की अवधारणा हिन्दू-विवाह-संस्कार की अपेक्षा मुस्लिम "निकाह" के अधिक समीप, साथ ही साथ अत्यन्त व्यावहारिक भी सिद्ध होती है।

मनु की दृष्टि में ब्राह्म विवाह से उत्पन्न पुत्र 10 अगली, 10 पिछली तथा स्वयं की-कुल इक्कीस-पीढ़ियों का उद्धार करता है। इसी प्रकार दैवज पुत्र पन्द्रह, प्राजापत्यज पुत्र तेरह तथा आर्षजपुत्र सात पीढ़ियों का उद्धार करता है।

शेष चार विवाहों से उत्पन्न सन्ततियों को मनु कदर्थित कहते हैं। उन्हें नृशंस, अनृतवादी, ब्रह्मद्वेषी तथा धर्मद्वेषी बताते हैं।[35] आचार्य शंख

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विभिन्न वर्णों की एकाधिक पत्नियों की भी चर्चा करते है। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण की तीन, क्षत्रिय को दो तथा वैश्य या शूद्र की एक भार्या हो सकती है।[36]

परन्तु समाजवादी राजनयिक कौटिल्य विवाह-सन्दर्भ में न तो वर्णं-विशेष के विशेषाधिकार की चर्चा करते हैं और न उनकी सुविधाओं की। उन्होंने धर्म, परलोक, ईश्वर तथा सहृदयता को परे रखकर अपनी विशुद्ध समाजवादी दृष्टि प्रस्तुत की है। उनकी विवाह-व्यवस्था समस्त वर्णों के लिए एक-जैसी है। हाँ, इस सन्दर्भ में कौटिल्य एक महत्त्वपूर्ण बात अवश्य कहते हैं। वह यह कि ब्राह्म, आर्ष, प्राजापत्य तथा देव–इन चार विवाहों में देवता तथा पितर ही प्रमाणभूत साक्षी होते हैं। फलतः ये चारो विवाह धर्मानुकूल हैं। परन्तु अन्य चार विवाहों में वर-कन्या का सम्बन्ध दोनो पक्षों के माँ-बाप की सन्तुष्टि-असन्तुष्टि पर निर्भर होता है। कभी-कभी माँ-बाप कन्या शुल्क भो लेते हैं। फलतः आसुर, गन्धर्व, राक्षस तथा पैशाच–ये चारो धर्म्य नहीं माने ज सकते।[37]

आचार्य कौटिल्य द्वितीय शुल्क (दहेज) तथा स्त्रीधन की भी चर्चा करते हैं। इस सन्दर्भ में उनका दृष्टिकोण आश्चर्यजनक ढंग से मुस्लिम विवाह-प्रथा के 'मेहर' से मेल खाता है। प्रथम शुल्क तो कन्याशुल्क है जो कन्या के माँ-बाप अथवा दोनो में से कोई एक बेटी को ब्याहने के बदले में परपक्ष से प्राप्त करता है। परन्तु माँ-बाप अथवा सगे-सम्ब्रन्धियों द्वारा जो धन प्रीतिवश कन्या को दिया जाता है, वह कन्या को ही प्राप्त होता है। कालान्तर में इसी को यौतक अथवा दहेज कहा गया।

पतिगृह आने पर भी महिला को नकद (कैश) अथवा वस्त्राभूषण (काइण्ड) के रूप में सम्पत्ति प्राप्त होती थी। कौटिल्य नकद धन को 'वृत्ति" तथा आभूषणादि को "आबन्ध्य" कहते हैं। वृत्ति स्त्री के नाम कोषागार में जमा की गई धनराशि है। यह दो हजार मुद्रा से अधिक ही होनी चाहिए। आबन्ध्य अथवा अभूषणादि की मात्रा का कोई नियम नहीं है। वृत्ति तथा आबन्ध्य को ही सम्मिलित रूप से "स्त्रीधन" कहा गया

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

है ।[38] पति के प्रवासी होने पर, विपत्ति, बीमारी, दुर्भिक्ष अथवा अन्यान्य संकटों में महिला जीविका के लिए अपने उसी "स्त्रीधन" का उपयोग कर सकती है । स्त्रीधन की चर्चा स्मृतिकारों ने भी की है । परन्तु कौटिल्य जैसी व्यावहारिक एवं तर्कसंगत व्यवस्था उनमें नहीं प्राप्त होती ।

विवाह-विच्छेद तथा पुनर्विवाह पर विस्तृत व्याख्यायें स्मृतियों एवं अर्थशास्त्र में मिलती हैं । परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर कौटिल्य अधिक व्यावहारिक, तर्कसंगत तथा यथार्थवादी सिद्ध होते हैं । मनु तो विवाह-विच्छेद की कल्पना भी नहीं कर पाते । माँ-बाप जिस किसी को भी अर्पित कर दें, साध्वी स्त्री को चाहिए कि वह उसी की सेवा करे । जीवित रहते सेवा करे और मृत्यु के बाद भी उसका त्याग न करे ।[39] इसी प्रकार मनु की दृष्टि में पुरुष भी विक्रय अथवा परित्याग द्वारा पत्नी से पृथक् नहीं हो सकता ।[40]

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मनु में उदारता अथवा संशोधन-दृष्टि का अभाव है । विवाह-प्रक्रिया में किए गए षड्यंत्रों तथा प्रवंचनाओं के मनु घोर विरोधी हैं । उनके सिद्ध हो जाने पर, वह विधिवत् किए गए विवाह को भी तोड़ देने के पक्षधर हैं । दुराचारिणी, रोगिणी अथवा छलपूर्वक प्रख्यापित कन्या से विवाह-विच्छेद तत्काल किया जा सकता है । पिता को चाहिए कि कन्या का दोष (यदि कोई हो तो) बताकर ही विवाह करे :

विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम् ।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ।।
यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत् ।
तस्य तद् वितथं कुर्यात् कन्यादातुर्दुरात्मनः ।।

—मनु० 9.72, 73

कौटिल्य भी मनु का मन्तव्य स्वीकार करते हैं । परन्तु स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों के क्षत अथवा अक्षत रहने के सन्दर्भ में वह अपेक्षाकृत अधिक उदार हैं । इसीलिए वह जहाँ धर्म-विवाहों (आर्ष, देव, प्राजापत्य तथा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ब्राह्म) में किसी भी मूल्य पर तलाक स्वीकार नहीं करते , वहीं पति-पत्नी दोनो के पारस्परिक द्वेष होने पर तलाक सहज भाव से स्वीकार भी कर लेते हैं।[41] यह उनकी व्यावहारिक दृष्टि का परिचायक है, क्योंकि पारस्परिक स्नेह-प्रेम ही दाम्पत्य की आधारशिला है। उसके अभाव में तो दाम्पत्य बस नारकीय यातना-मात्र है, नाटक है। निश्चय ही ऐसा दाम्पत्य निर्मूल्य है।

कौटिल्य आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच को "धर्मविवाह" नहीं मानते क्योंकि इनमें प्राय: उल्बण कामभावना, स्वेच्छाचार अथवा पाप की प्रबलता होती है। फलत: इन विवाहों में सम्बन्ध-विच्छेद सरलता से सम्भव है। कौटिल्य द्वारा व्याख्यात यह तलाक शत-प्रतिशत इस्लाम-परम्परा के अनुकूल है। यदि तलाक पुरुष दे रहा हो तो उसे चाहिए कि वह स्त्रीधन तथा स्त्री के मायके से मिला दहेज उसे लौटा दे। यदि तलाक स्त्री दे रही हो तो उसे चाहिए कि वह ससुराल से प्राप्त धन, वस्त्र एवं आभूषण लौटा दे।[42]

सम्बन्ध-विच्छेद न हो फिर भी यदि पत्नी अपनी इच्छा से मायके में रहती हो अथवा स्वतंत्र रूप से धनार्जन करती हो तो उसके भरण-पोषण के लिए पति को वाध्य नहीं किया जा सकता है।[43]

विवाह के सन्दर्भ में एक और महत्त्वपूर्ण बिन्दु है पुनर्विवाह अथवा (पति के) अनेक विवाह का। स्मृतिकारों तथा कौटिल्य ने इन सन्दर्भों की वृहद् व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। स्त्री के पुनर्विवाह की सम्भावना दो स्थितियों में होती है : विधवा होने पर तथा पति के प्रवासी, संन्यासी अथवा प्रभूतकाल तक गुप्त बने रहने पर।

मनु और याज्ञवल्क्य विधवा-विधाह के घोर विरोधी हैं।[44] हाँ कुलोच्छेद की स्थिति में मनु विधवा को अपने देवर से विवाह की अनुमति देते हैं[45] बशर्ते कि वह विधवा अक्षत-योनि हो। वाग्दान हो जाने के बाद ही जिस कन्या का पति मर जाय वह अक्षत-योनि होती है। स्मृतियों की भाषा में उसे "पुनर्भू" कहा गया है। पुनर्भू से उत्पन्न पुत्र को पौनर्भव

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कहा गया है। मनु इसी पुनर्भू के पुर्नविवाह को शास्त्र-सम्मत मानते हैं। इस सन्दर्भ में विशेष व्याख्या यथावसर आगे की जाएगी।

परन्तु नारद एवं पराशर विधवा-विवाह को सहज एवं न्याय्य मानते हैं। पुर्नविवाह को अनेक परिस्थितियों में से, पति की मृत्यु को भी इन स्मृतिकारों ने स्वीकार किया है।[46]

वैधव्य के अतिरिक्त भी कुछ विशेष परिस्थितियों में पति अथवा पत्नी, एक दूसरे को त्यागकर पुर्नविवाह कर सकते हैं। सर्वप्रथम विवाहित महिला के पुर्नविवाह का निरूपण किया जा रहा है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि मनु-जैसे पति की सेवा का आजीवन विधान करते हैं। अन्य स्मृतिकार उसी का बलपूर्वक निषेध करते हैं। अर्थशास्त्र में छह स्थितियों में महिला के पुर्नविवाह की व्यवस्था मिलती है : पति का नोचत्व (?), प्रवास, राजकिल्विष, प्राणाभिघात, चारित्रिक पतन तथा क्लीबत्व।[47]

पति के प्रोषित होने पर नारद प्रतीक्षा का भी विधान करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य-शूद्र महिलायें पुत्रवती हों तो क्रमशः आठ, छह तथा चार वर्ष अन्यथा चार, तीन तथा दो वर्ष तक पति के आने की प्रतीक्षा करें। इस अवधि के अनन्तर वे विवाह कर सकती हैं।

मनु भी प्रतीक्षा का विधान करते हैं। परन्तु उनका विधान अत्यन्त अव्यावहारिक तथा अस्पष्ट-सा प्रतीत होता है। मनु के अनुसार प्रोषित पति यदि धर्मकार्य (तीर्थस्नानादि) के लिए गया हो तो आठ वर्ष, विद्याध्ययन के लिए गया हो तो छह वर्ष तथा कामार्थ गया हो तो तीन वर्ष महिला पति के आने की प्रतीक्षा करे।[48] उसके बाद क्या करे ? इस प्रश्न का उत्तर मनु नहीं देते। हाँ, मनु के टीकाकार कुल्लूकभट्ट एक विचित्र व्यवस्था देते हैं: "ऊर्ध्वं पतिसन्निधिं गच्छेत्" अर्थात् उस अवधि के बाद पति के पास चली जाय। परन्तु ऐसा तो तभी सम्भव है जब उस अवधि के बाद पति लौट आये। न लौटने पर महिला का पुर्नविवाह मनु का मान्य है अथवा नहीं, यह स्पष्ट नहीं है। दूसरी विसंगति यह है कि

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कामार्थ प्रोषित पति की प्रतीक्षा की भी भला कोई सार्थकता है? हाँ यदि "कामार्थ" का तात्पर्य नौकरी-व्यवसाय आदि हो तो उसकी सार्थकता मानी जा सकती है।

आचार्य कौटिल्य चार स्थितियों में महिला को पुनर्विवाह की आज्ञा देते हैं—पति का प्रोषित होना, दीर्घकाल तक प्रवासी होना, प्रव्रजित (संन्यासी) होना तथा दिवंगत होना। प्रोषितपतिकाओं के सन्दर्भ में की गई कौटिल्य की सूक्ष्मेक्षिका उनकी अकुण्ठ प्रतिभा तथा व्यवहार-ज्ञान की प्रतीक है।[49] पति पत्नी से कहकर परदेश गया है अथवा बिना कहे? विवाह में प्रतिज्ञात पूरी धनराशि देकर गया है अथवा नहीं? परदेश जाकर उसने अपना कुशल-क्षेम भेजा है अथवा नहीं? कौटिल्य ने प्रत्येक स्थिति में महिला को पृथक् पृथक् प्रतीक्षावधि व्यवस्थित की है। उन सारी अवस्थाओं के बीत जाने पर ही महिला धर्माधिकारी से अनुमति लेकर दूसरा विवाह कर सकती है। ऋतुकाल में स्त्री को पुरुष का सहवास न प्राप्त होना कौटिल्य की दृष्टि में धर्मनाश के तुल्य है।[50]

दीर्घकालिक प्रवास, संन्यास अथवा मृत्यु की स्थिति में महिला को सात मासिक धर्म तक विवाह नहीं करना चाहिए, ऐसा कौटिल्य का मत है। महिला यदि प्रजाता (सन्तान वाली) हो तो उसे एक वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। उसके बाद वह अपने पति के सगे भाई (अनेक भाई हों तो जो भरण-पोषण करने में समर्थ देवर) से अथवा पत्नी-विहीन भाई से अन्यथा परिवार के किसी भी निकटतम सदस्य से विवाह कर ले। परन्तु कौटिल्य के मतानुसार वह व्यक्ति महिला के मृतक पति की सम्पत्ति का हकदार ही होना चाहिए। यदि महिला घर-परिवार के लोगों को छोड़कर सर्वथा अपरिचित किसी दूरस्थ व्यक्ति से विवाह करती है तो परिणेता, परिणोता, परिणय कराने वाला तथा परिणय में भागीदार-चारो ही-दण्ड के भागीदार होंगे।[51]

कौटिल्य एक प्रकाण्ड राजनयिक था। फलतः अपनी समस्त व्यवस्थाओं में वह "राज्य" को धर्म, आचार, संस्कृति तथा लोक-परम्परा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के ऊपर रखता है। पुर्नविवाह की व्याख्या में भी कौटिल्य की दृष्टि यही है कि राज्य को सम्पत्ति का विकेन्द्रोकरण न होने पाए। एक घर की सम्पत्ति उसी घर में रहे; बाहर न जाए।

इसका एक और रोचक प्रमाण अर्थशास्त्र में उपलब्ध है। ह्रस्व-प्रवास अर्थात् कुछ समय के लिए पतियों के विदेश जाने पर चारो वर्णों की महिलायें, यदि सन्ततिहीन हों तो एक वर्ष अन्यथा अधिक समय तक उनके लौटने की प्रतीक्षा करें। यदि पति उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध कर गए हों तो दूने समय तक (अर्थात् दो या दो से अधिक वर्ष तक) प्रतोक्षा करें। जिनके भरण-पोषण का प्रबन्ध न हो, उनके बन्धु-बान्धव चार से लेकर आठ वर्ष तक उनका प्रबन्ध करें और तब भी यदि पति न लौटे तो दिये गये स्त्रीधन को वापस लेकर महिला को पुर्नविवाह की छूट दे दें। स्त्रोधन को वापस लेने को बात सम्भवत: कौटिल्य इसलिए करते हैं कि स्त्री जहां भी विवाह करेगी वहीं उसे दुबारा स्त्रीधन (वस्त्राभूषण) प्राप्त होगा।

अध्ययन और राजकार्य को कौटिल्य विशेष महत्त्व देते हैं। अध्ययनार्थ प्रोषित पतियों के लौटने की प्रतीक्षा पुत्रहीन ब्राह्मण स्त्रियाँ दस वर्ष तथा पुत्रवती बारह वर्ष तक करें। परन्तु यदि पति राजकार्य से बाहर गया हो तो उनकी पत्नियां आयुपर्यन्त उनकी प्रतीक्षा करें–ऐसा कौटिल्य का अभिमत है। ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रवास में यदि महिला को कोई अवैध बच्चा भो हो जाए तो कौटिल्य उसे क्षम्य मानते हैं। इस व्याख्या से राजतंत्र के प्रति आचार्य की निष्ठा स्पष्ट हो जाती है।[52]

पुरुष किन स्थितियों में पुर्नविवाह कर सकता है, इसके विषय में प्राय: स्मृतियाँ मौन हैं। परन्तु आचार्य कौटिल्य इस सन्दर्भ की विस्तृत व्याख्या करते हैं। कुछ शर्तों के साथ तीन परिस्थितियों में कौटिल्य पुरुष को पुर्नविवाह को आज्ञा देते हैं :

१. यदि पत्नी को सन्तान न होती हो अथवा उसमें सन्तानोत्पत्ति की क्षमता ही न हो तो आठ वर्ष प्रतीक्षा करके।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२. यदि पत्नी के निरन्तर मरा हुआ बच्चा उत्पन्न हो रहा हो तो दस वर्ष प्रतीक्षा करके।

३. यदि पत्नी के निरन्तर कन्या ही पैदा हो रही हो तो बारह वर्ष प्रतीक्षा करके।

पुत्र की इच्छा वाला पुरुष इन प्रतीक्षावधियों के बाद पुर्नविवाह कर सकता है, परन्तु नियमोल्लंघन करने वाले पति को दण्डभागी माना जाएगा। उसे दहेज में मिलो सम्पत्ति, स्त्रीधन तथा अतिरिक्त धन भी अपनी पहली पत्नो को लौटा देना होगा गुजारे के रूप में। इसके बाद भी चूंकि वह कृतापराध है अतः शासन को चौबीस पण तक दण्ड भी देगा।

मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि सभी स्मृतिकारों ने पत्नी को पुरुष की प्रतिष्ठा, अर्धाङ्ग तथा यज्ञ-सहभागिनी बताया है। उनकी दृष्टि में पारलौकिक श्रेयस् की दृष्टि से ही पुरुष का विवाहित होना अनिवार्य है। इस सन्दर्भ की विस्तृत व्याख्या प्रारम्भ में ही की जा चुकी है। शतपथ ब्राह्मण में भी पत्नीविहीन व्यक्ति को यज्ञ का अनधिकारी कहा गया है— अयज्ञो वै एष योऽपत्नीकः।

परन्तु कौटिल्य की दृष्टि में नारी की सबसे बड़ो उपयोगिता है पुत्र उत्पन्न करना। कौटिल्य का यह मत सम्भवतः धर्मभोरु समालोचकों को रुचेगा नहीं, परन्तु है वह अत्यन्त व्यावहारिक कटु सत्य। मौर्ययुग में सम्पूर्ण लौकिक योगक्षेम सैन्यबल पर आश्रित था। सैनिकों के अभाव में राष्ट्र अरक्षित था। अतएव उस युग में निश्चय हो शौर्य-पराक्रम-सम्पन्न युवकों की बड़ी आवश्यकता रही होगी। अतः सारे नियम, बन्धन तथा दण्ड की व्यवस्था के बाद भो कौटिल्य "पुत्रोत्पत्ति" के लिए अनेक प्रकार की छूट दे देते हैं।

सम्भोग-सुख-मात्र की इच्छा से किसी कुष्ठिनी अथवा उन्मत्ता (कोढ़िन अथवा पागल) से संसर्ग करने का कौटिल्य स्पष्टतः विरोध करते हैं। परन्तु पुत्र को इच्छा से यदि कोई महिला किसी पागल अथवा कोढ़ी से भी संसर्ग करती है तो कौटिल्य उसे अनुमति देते हैं।[53]

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विवाहित पत्नी को धन-द्रव्य तथा वस्त्राभूषणादि से पर्याप्त सन्तुष्ट करके पुरुष कितनी ही पत्नियाँ रख सकता है। क्योंकि स्त्रियाँ पुत्र पैदा करने के ही लिये होती हैं।[54] कौटिल्य की इस व्यवस्था में नारी के प्रति थोड़ी अनिष्ठा एवं अनार्जव की गन्ध आती है और किसी भी विवेकशील व्यक्ति को मान्य न होगी।

पति-पत्नी के सम्बन्ध बने रहने पर भी स्त्री या पुरुष एक दूसरे के प्रति जो अपराध करते हैं उनके दण्ड-विधान का अत्यन्त विस्तृत विवेचन आचार्य कौटिल्य ने किया है।[55] विस्तार-भय से उस सन्दर्भ की यहाँ समीक्षा नहीं की जा रही है।

(2)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र—इन चारो वर्णों के पारस्परिक सम्बन्धों की दृष्टि से विवाह मुख्यतः दो प्रकार का माना गया है: अनुलोम तथा प्रतिलोम। पुरुष का अपने वर्ण अथवा अपने से अवर वर्ण में विवाह करना अनुलोम विवाह है। इसके विपरीत प्रत्येक वर्ण का अपने से श्रेष्ठ वर्ण में विवाह करना प्रतिलोम विवाह है।

अनुलोम विवाह भी दो प्रकार का है: सवर्ण तथा असवर्ण। सामान्यतः सवर्ण का अर्थ है अपने ही वर्ण में उत्पन्न। ब्राह्मण का ब्राह्मण कन्या से, क्षत्रिय का क्षत्रिय कन्या से, वैश्य का वैश्य कन्या से तथा शूद्र का शूद्र कन्या से विवाह होना स्मृतियों के अनुसार सवर्ण विवाह हैं।

परन्तु आचार्य कौटिल्य का मत कुछ भिन्न है। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ण के सन्दर्भ में वह लिखते हैं कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय कन्या में उत्पन्न ब्राह्मण के पुत्र सवर्ण होंगे। इसी प्रकार क्षत्रिय तथा वैश्य कन्या में उत्पन्न क्षत्रिय के पुत्र सवर्ण होंगे। ब्राह्मण से वैश्य कन्या में तथा क्षत्रिय से शूद्र कन्या में उत्पन्न पुत्र असवर्ण होंगे।[56]

सवर्ण कन्याओं के भी अनेक रूप होने संभव हैं, जैसे:—कोई कन्या जो वाग्दान के बाद ही विधवा (पुनर्भूः) हो गई हो, या ऐसी कन्या जिसे विवाह से पूर्व ही बच्चा पैदा हो गया हो, या ऐसी कन्या जो विवाह के

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

समय किसी अन्य व्यक्ति से गर्भवती हो। स्थिति-विशेष में ऐसी महिलाओं से भी लोग विवाह करते थे। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि पुत्रों के भी अनेक प्रकार होंगे।

आचार्य कौटिल्य ने अनुलोम तथा प्रतिलोम विधि से उत्पन्न उन समस्त पुत्रों की व्याख्या की है तथा उनके उत्तराधिकार का भी सूक्ष्म विवेचन किया है। परन्तु कौटिल्य से पूर्व स्मृतियों की व्याख्याओं का आकलन कर लेना अधिक समीचीन होगा।

विष्णु[57] तथा वसिष्ठ स्मृतियों[58] में कुल बारह सवर्ण पुत्रों को मान्यता दी गई है : औरस, क्षेत्रज, पुत्रिका-पुत्र, पौनर्भव, कानीन, गूढोत्पन्न, सहोढ, दत्तक, क्रीत, उपगत, अपविद्ध तथा उत्पादित। मनु-स्मृति[59] तथा याज्ञवल्क्यस्मृति[60] में भी 12 पुत्रों को ही मान्यता प्राप्त है, किन्तु संज्ञा में थोड़ी भिन्नता है। मनु उपगत को "स्वयदत्त" नाम देते हैं। इसी तरह विष्णुस्मृति का "उत्पादित" मनु की तालिका में नहीं है। उसके स्थान पर "पारशव" की गणना है।

पराशरसंहिता में कुण्ड, गोलक, औरस, क्षेत्रज, दत्त कृत्रिमक, परिवित्ति, परिवेत्ता तथा सापत्न्य—इन नौ पुत्रों की गणना की गई है।[61] अन्यान्य स्मृतियों में भो सवर्ण, असवर्ण तथा वर्णसंकर (प्रतिलोम) सन्ततियों की परस्पर उलझी हुई, वृहत् नामावली मिलती है। स्मृतिकारों की परिभाषाओं तथा व्याख्याओं में भी प्रभूत अन्तर है। इस प्रकरण पर एक स्वतंत्र शोधप्रबन्ध लिखा जा सकता है।

आचार्य कौटिल्य नौ सवर्ण पुत्रों को मान्यता देते हैं—औरस, कानीन, सहोढ, क्षेत्रज, गूढज, दत्त, उपगत, कृतक तथा क्रीत।[62]

विधिवत् विवाहित सवर्णा कन्या से उत्पन्न पुत्र औरस होता है। कौटिल्य कहते हैं—स्वयंजातः कृतक्रियायामौरसः। वस्तुतः औरस पुत्र को ही समस्त स्मृतिकारों ने मृत पिता के और्ध्वदैहिक कर्म का अधिकार दिया है। कौटिल्य औरस को पिता की सम्पत्ति का शत-प्रतिशत उत्तरा-धिकारी मानते हैं और अन्य सवर्णा-पुत्रों को एक तिहाई सम्पत्ति का तथा असवर्णा-पुत्रों को मात्र गुजारे का हकदार। इस सन्दर्भ का विधिवत्

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

निरूपण अभी आगे किया जाएगा। वृहद्हारीत-संहिता में भी औरस सन्तान को विशेष महत्त्व दिया गया है।[63]

कौटिल्य तथा याज्ञवल्क्य---दोनो ही—पुत्रिकापुत्र को औरस पुत्र के ही समान मानते हैं---स्वयंजातः······औरसः। तेन तुल्यः पुत्रिकापुत्रः।

अर्थ० 3.63.7

औरसो धर्मपत्नीजस्तत्समः पुत्रिकासुतः। —याज्ञ० दा० वि० 128

इस प्रकार अन्य स्मृतिकारों द्वारा पृथक् गणित पुत्रिकापुत्र का अन्तर्भाव कौटिल्य के औरसपुत्र में ही हो जाता है। यह पुत्रिकापुत्र क्या है ?

जब कोई पुत्रहीन पिता अपनी कन्या इस शर्त के साथ किसी को ब्याहता था कि इसके गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह मेरा पुत्र होगा तो इसे "पुत्रिकाधर्म" कहते थे।[64] उस बच्चे को पुत्रिकापुत्र कहते थे जिस की प्रतिष्ठा औरस पुत्र के ही समान होती थी। वस्तुतः इस विधि से पुत्र अपने माता-पिता का वारिस न होकर "नाना" का उत्तराधिकारी होता था।

परन्तु लिखित-स्मृति में दी गई व्याख्या थोड़ी भ्रामक प्रतीत होती है। आचार्य लिखित कहते हैं कि जिस कन्या का भाई न हो और पिता भी अज्ञात हो, बुद्धिमान् व्यक्ति को ऐसी कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए-पुत्रिका-कर्म की आशंका से।[65] प्रश्न यह है कि यदि कन्या का पिता भी नहीं है तो पुत्रिकापुत्र की आवश्यकता किसे होगी ? महाभारत काल में मणिपुर-नरेश ने इसी विधि से अपनी पुत्री चित्रांगदा अर्जुन को दी थी। अर्जुन का पुत्र बभ्रुवाहन मणिपुर-नरेश का उत्तराधिकारी बना।

ऐसी कन्या का विवाह करते समय पिता वर से जो वचन कहता था उसे आचार्य लिखित तथा वसिष्ठ समान रूप से अभिव्यक्त करते हैं:—

अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम्।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति॥

—वसिष्ठ० अ० 17

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

लिखित-स्मृति में "भवेदिति" के स्थान "भविष्यति" पाठ मिलता है। अपने क्षेत्र (पत्नी) में किसी नियुक्त (नियोगविधि से आमंत्रित) सगोत्र अथवा अन्यगोत्र द्वारा उत्पादित पुत्र क्षेत्रज है। विचित्रवीर्य की पत्नियों से कृष्ण द्वैपायन द्वारा उत्पन्न किए गए धृतराष्ट्र एवं पाण्डु क्षेत्रज पुत्र थे। क्षेत्रज पुत्र पर क्षेत्रपति का अधिकार बीजपति की तुलना में अधिक होता है। इस सन्दर्भ की विस्तृत व्याख्या मनुस्मृति में मिलती है।[66]

क्षेत्रज पुत्र की ही तरह जो बच्चा छिपे तौर पर स्त्री के किसी भाई-बन्धु के घर पैदा हो उसे गूढजपुत्र कहते हैं। संभवतः यह संकट-कालीन स्थिति थी। बनबीर के भय से महाराजा उदयसिंह का लालन-पालन ऐसी ही विधि से हुआ था। वसुदेव की पत्नी रोहिणी ने भी इसी प्रकार गोपराजनन्द के घर में बलराम को जन्म दिया था।

मनु, विष्णु तथा वसिष्ठ स्मृति में गूढज को गूढोत्पन्न कहा गया है। दृष्टिकोण में भी भेद है।[67] पाणिग्राह के घर पर रहस्यात्मक ढंग से उत्पन्न (चाहे वह किसी और का ही पुत्र क्यों न हो) पुत्र गूढज है। ऐसा पुत्र पाणिग्राह का ही वारिस होता है; न कि बीजपति का।

पिता के घर में अविवाहित कन्या गुप्त रूप से जिस पुत्र को उत्पन्न करती है उसे कानीन कहते हैं; जैसेः—पराशर द्वारा योजनगन्धा में व्यास की उत्पत्ति। ब्रह्मपुराण, मनुस्मृति तथा नारदस्मृति में कानीन पुत्र को कन्या से विवाह करने वाले व्यक्ति का उत्तराधिकारी माना गया हैः—

अदत्तायां तु यो जातः सवर्णेन पितुर्गृहे ॥
स कानीनः सुतस्तस्य यस्मै सा दीयते पुनः ॥

—ब्रह्मपुराण

पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥

—मनु० 9.27

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कानीनश्च सहोढश्च गूढायां यश्च जायते ।
तेषां वोढा पिता ज्ञेयस्ते च भागहराः स्मृताः ।।

—नारद० 13-17

परन्तु याज्ञवल्क्य ऐसे पुत्र को मातामह (नाना) का वारिस मानते हैं ।[68] आचार्य कौटिल्य लिखते हैं, "कन्यागर्भः कानीनः" अर्थात् कन्या के गर्भ से उत्पन्न पुत्र कानीन है । ऐसे पुत्र को वह एक तिहाई का उत्तराधिकारी मानते हैं बशर्ते कि उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी औरसपुत्र न हो ।

सगर्भा से विवाह करने पर जो पुत्र उत्पन्न हो उसे सहोढ कहते हैं । लोकभाषा में इसे 'तरायल' कहते हैं । सगर्भा से कोई व्यक्ति जानबूझ कर भी विवाह कर सकता है या फिर अनजाने में भी ऐसा हो सकता है ।[69] कौटिल्य भी इसी मन्तव्य का समर्थन करते हैं ।[70] वसिष्ठ सहोढ को अदायादों (उत्तराधिकार-रहित) में प्रथम मानते हैं ।[71] परन्तु कौटिल्य सहोढ को भी उत्तराधिकार देते हैं । उनका स्पष्ट मत है कि परजात (दूसरे से उत्पन्न) सन्तति संस्कर्ता (पालन-पोषण करने वाले) की ही उत्तराधिकारिणी होती है; बन्धुओं की नहीं ।[72] इस प्रकार कौटिल्य अधिक व्यावहारिक तथा उदार सिद्ध होते हैं ।

कौटिल्य दत्त (दत्तक) पुत्र को भी पोषणकर्ता का ही वारिस मानते हैं । हाथ में संकल्पजल लेकर जो बच्चा, माता-पिता द्वारा किसी और को दे दिया जाए उसे दत्त या दत्तक कहते हैं । कौटिल्य द्वारा "संकल्प जल" का उल्लेख किया जाना संकेतित करता है कि मौर्ययुग में भी यह एक सामाजिक व्यवस्था थी जिसमें लोग साक्षी होते थे । केवल दे देना ही पर्याप्त नहीं था बल्कि वह दान शास्त्रीय पद्धति से होता था । वसिष्ठ भी दत्तक की यही परिभाषा देते हैं ।[73]

पुत्रदान की अपेक्षा एवं औचित्य पर मनु ने भी तर्कसंगत प्रकाश डाला है । उनके मन्तव्यानुसार पुत्रदान एक आपत्कालिक व्यवस्था थी । किन्हीं कारणों से आपत्ति में अपने ही समान तथा प्रीतियुक्त व्यक्ति को पुत्र दिया जाता था संकल्पजल के साथ । आपत्ति अनेक प्रकार की हो

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सकती है; जैसे:—दम्पति का पुत्रहीन होना, पुत्रोत्पत्ति की आशा का क्षीण हो जाना अथवा एकमात्र पुत्र की मृत्यु आदि। ऐसी आपत्ति में वंश-परम्परा उच्छिन्न होने के भय से किसी सन्तान को गोद लेने की अपेक्षा होती थी। संकल्पपूर्वक दान किया गया वह पुत्र अपने ग्रहीता का वैध उत्तराधिकारी होता था।[74] मनु दत्त अथवा दत्तक को "दत्त्रिम" कहते हैं।

जो स्वयं किसी के पास पुत्रभाव से आ गया हो अथवा बन्धुओं द्वारा पहुंचा दिया गया हो उसे "उपगत" पुत्र कहते हैं। मनु उपगत को "स्वयंदत्त" संज्ञा देते हैं। जो बच्चा माता-पिता से विहीन हो अथवा अकारण ही माँ-बाप से त्याग दिया गया हो वह स्वयं अपने को पुत्रभाव से यदि किसी को सौंप दे तो उसे उपगत या स्वयंदत्त पुत्र कहते हैं।[75]

यदि बच्चा मातृ-पितृ-विहीन है तो स्वाभाविक है कि उसके बन्धु-बान्धव उसे किसी को सौंप सकते हैं या फिर यदि बच्चा समझदार है तो स्वयं ही अपने को किसो की शरण में प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रकार कौटिल्य के कथन में कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता।

वसिष्ठ संहिता में "उपगत" को "उपागत" कहा गया है। "शुनःशेफ" के माध्यम से "उपागत" पुत्र की रोचक व्याख्या की गई है—
स्वयमुपागतश्चतुर्थः तच्छुनःशेफेन व्याख्यातम्। शुनःशेफो ह वै यूपे नियुक्तो देवतास्तुष्टाव। तस्येह देवताः पाशं विमुमुचुः। तमृत्विज ऊचूर्ममैवायं पुत्रोऽस्त्विति। तानाह न सम्पेदे। ते सम्पादयामासुरेष एव यं कामयेत तस्य पुत्रोऽस्त्विति। तस्येह विश्वामित्रो होताऽसीत्। तस्य पुत्रत्वमियाय।
—(वसिष्ठ अ० 17)

उपगत के ठीक विपरीत "कृतक" पुत्र होता है। "उपगत" स्वयं पुत्रभाव से आता है किसी के पास जबकि "कृतक" किसी व्यक्ति द्वारा पुत्रभाव से स्वयं स्वीकार किया जाता है। कालिदास की यक्षिणी बालमन्दार को,[76] शकुन्तला दीर्घापांग नामक मृगशावक को[77] तथा भगवान् शंकर देवदारु को[78] पुत्रभाव से स्वीकार करते हैं। परन्तु यह तो जड़-चेतन के समन्वय की बात है। समाज में भी ऐसी प्रथा रही है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

"पुत्रत्वेऽधिकृतः कृतकः" कौटिल्य का अभिमत है। मनु "कृतक" को "कृत्रिम" संज्ञा देते हैं। साथ ही साथ उसकी योग्यता की चर्चा भी करते हैं। मनु के मन्तव्यानुसार "कृतक" पुत्र सजातीय, पुत्रोचित गुणों (श्रद्धा, भक्ति, विनम्रतादि) से युक्त तथा गुण-दोष का विवेचक होना चाहिए:—

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् ।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ।।

—मनु० 9.169

वसिष्ठ "कृतक" अथवा "कृत्रिम" पुत्र की चर्चा नहीं करते हैं। विष्णुस्मृति भी "कृतक" पुत्र के सन्दर्भ में मौन है।

कौटिल्य द्वारा स्वीकृत नवाँ क्रीत पुत्र है—परिक्रीतः क्रीत इति अर्थात् जो खरीदकर पुत्र बना लिया जाय उसे क्रीत कहते हैं। खरीदने की कुछ विशेष परिस्थितियाँ होती थीं। मुख्य स्थिति थी सन्तानहीन होना या फिर लोग विशेष प्रयोजन से किसी के माँ-बाप को, बच्चे का मूल्य चुकाकर, उसे अपना पुत्र बनाते थे; जैसे:—राजा हरिश्चन्द्र ने शुनःशेफ को, उसके पिता अजीगर्त को मूल्य देकर, खरीद लिया था यज्ञ में बलि देने के लिए। खरीदा गया बालक सवर्ण अथवा असवर्ण कोई भी हो सकता है, ऐसा मनु का मन्तव्य है।[79]

मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों द्वारा व्याख्यात उपविद्ध, पौनर्भव तथा पारशव (शूद्रापुत्र-वसिष्ठसंहिता) को कौटिल्य ने सवर्ण पुत्रों की कोटि में नहीं रखा है। पारशव को तो वह असवर्ण पुत्रों की तालिका में रखते हैं परन्तु अपविद्ध तथा पौनर्भव का तो उल्लेख भी नहीं करते हैं। शायद इसका कारण यह है कि अपविद्ध को उपगत अथवा स्वयंदत्त से पृथक् करना कठिन है। माता-पिता द्वारा परित्यक्त पुत्र ही अपविद्ध है। ऐसा ही पुत्र उपगत भी होता है। वसिष्ठ-संहिता में शुनःशेफ को ही आगत भी बताया गया है और अपविद्ध भी। इसी प्रकार विधवा जब

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पुन: विवाह करती है तो उसे पुनर्भू कहते हैं। उससे उत्पन्न पुत्र पौनर्भव है। कौटिल्य पुनर्भू को भी विवाहिता ही मानते हैं, पृथक् नहीं।

पुनर्भू के सन्दर्भ में थोड़ी व्याख्या अपेक्षित है। मनु पति द्वारा परित्यक्ता अथवा विधवा को पुनर्भू मानते हैं।[80] वसिष्ठ संहिता में पुनर्भू उसे कहा गया है जो अपने क्लीब (नपुंसक), पतित अथवा पागल पति को छोड़कर अन्य पति स्वीकार कर ले, पूर्वपति के मर जाने पर दूसरा पति स्वीकार कर ले या फिर अपने कौमार्य तथा पति को तिलांजलि देकर, औरों के साथ सम्पर्क बनाकर पुन: पति के ही कुटुम्ब का आश्रय ले ले।[81] आंगिरस-स्मृति में पुनर्भू को प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखा गया है:

अन्यदत्ता तु या कन्या पुनरन्यस्य दीयते।
तस्याश्चान्नं न भोक्तव्यं पुनर्भूः सा प्रगीयते॥

पुनर्भू की स्थिति प्राय: विधवा से भिन्न नहीं है (विधवा के सन्दर्भ में "पुनर्विवाह" शीर्षक में विस्तृत विचार किया जा चुका है), जिसकी अनेक स्थितियाँ होती हैं। नारदस्मृति (12.46) में तीन प्रमुख स्थितियाँ बताई गई हैं:

1. अक्षतयोनि—विवाहिता होकर भी जो कुमारी के ही समान है।

2. कुमार पति को छोड़कर, अन्य के पास रहकर, पुन: उसी के पास आने वाली।

3. क्षतयोनि, पतिभुक्ता तथा मृत्यु के बाद देवर आदि से ब्याही गई।

याज्ञवल्क्य विधवा के दो ही रूप स्वीकार करते हैं—अक्षता तथा क्षता। दोनो ही पुनर्भू हैं विवाह की स्थिति में।[82] वसिष्ठसंहिता में भी पुनर्भू की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि यदि वाणी तथा संकल्पजल से कन्या दे दी जाय परन्तु मन्त्रों द्वारा न दी गई हो और तभी वर की मृत्यु हो जाए तो फिर वह कुमारी ही समझी जाय। कन्या की ही तरह

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उसका पुनर्विवाह होना चाहिए।[83] यदि वह मंत्र-संस्कृत हो तब भी पति के मर जाने पर उसका पुनर्विवाह होना चाहिए।[84]

असवर्ण अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न नाना प्रकार के पुत्रों अथवा वर्गों का विवरण हमें विष्णु, वृद्धहारीत, औशनस, पराशर, गौतम, वसिष्ठ तथा मनुस्मृति में प्राप्त होता है। उन सबका संकलन-कार्य भी अत्यन्त दुष्कर है। परन्तु कुछ सूत्रभूत तथ्य इस सन्दर्भ में प्रस्तुत किये जा रहे हैं:

सर्वप्रथम कौटिल्य असवर्ण सन्तति की व्याख्या करते हैं। ब्राह्मण से वैश्यकन्या में उत्पन्न सन्तति अम्बष्ठ तथा शूद्रकन्या में उत्पन्न निषाद अथवा पारशव है। इसी प्रकार क्षत्रिय से शूद्रकन्या में उत्पन्न सन्तति उग्र है। वैश्य से शूद्रकन्या में उत्पन्न सन्तति शूद्र है। ये सभी अनुलोम विबाह से उत्पन्न हैं।

प्रतिलोम विधि से उत्पन्न सन्तानें भी अनेक हैं; जैसे:—शूद्र से वैश्य-कन्या में आयोगव, क्षत्रियकन्या में क्षत्ता, ब्राह्मणकन्या में चाण्डाल, वैश्य से क्षत्रिय कन्या में मागध, ब्राह्मणकन्या में वैदेहक और क्षत्रिय से ब्राह्मण-कन्या में सूत। परन्तु पुराणों में वर्णित सूत और मागध इनसे भिन्न हैं। कौटिल्य उन्हें ब्राह्मण तथा क्षत्रिय से भी श्रेष्ठ बताते हैं।[85]

अनुलोम-प्रतिलोम के बाद कौटिल्य तीसरी कोटि में उन सन्तानों को रखते हैं जो प्रतिलोम सन्ततियों के पारस्परिक यौन-संसर्ग से उत्पन्न होती हैं; जैसे—उग्र से निषादकन्या में कुक्कुटक, निषाद से उग्रकन्या में पुल्कस। अम्बष्ठ से वैदेहक कन्या में वैण, वैदेहक से अम्बष्ठ कन्या में कुशीलव। उग्र से क्षतृकन्या में श्वपाक। इन सबका विवाह अपने ही वर्ग में होता है। इन सबका पिता की जायदाद में भी बराबर-बराबर हिस्सा होता है।

वृद्धहारीत संहिता में सूत, वैदेहक, चाण्डाल, मागध, आयोगव तथा रथकार जैसी प्रतिलोम सन्तानों का विवरण मिलता है।[86] औशनस धर्मशास्त्र के 51 श्लोकों में केवल प्रतिलोम-सन्तानों की ही व्याख्या की गई है। ये सूत, वेणुक, रथकार, मागध, चाण्डाल, श्वपच, आयोगव, तन्तु-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वाय, ताम्रोपजीवी, सूनिक, उद्‌बन्धक, पुलिन्द, पुक्कस, रजक, रंजक, चर्मोपजीवी, स्कचिक, चक्री, सुवर्ण आदि हैं। जाति-विद्वेष से ग्रस्त आज के युग में ये व्याख्यायें विषाक्त प्रतीत होंगी, परन्तु समाज-व्यवस्था की दृष्टि से ये अत्यन्त रोचक तथा सारवती हैं।

विवाह तथा सन्तति (पुत्र) के अनन्तर उत्तराधिकार का प्रश्न आता है। प्रारंभ में ही इस सन्दर्भ में कौटिल्य के दृष्टिकोण की थोड़ी चर्चा की गई है। कौटिल्य सवर्णा तथा विधिवत् विवाहिता पत्नी में उत्पन्न औरसपुत्र को ही पिता की सम्पत्ति का शत-प्रतिशत उत्तराधिकारी मानते हैं। अन्य सवर्णा-पुत्रों को एक तिहाई सम्पत्ति का उत्तराधिकारी मानते हैं। असवर्ण विवाहों से उत्पन्न पुत्रों को केवल भरण-पोषण का उत्तराधिकारी मानते हैं।[87] गूढज तथा दत्तक अपने पालक के ही उत्तराधिकारी होंगे; जन्मदाता के नहीं, यह भी सुस्पष्ट है।

उत्तराधिकार के सन्दर्भ में गौतम तथा वसिष्ठ स्मृति में भी विस्तृत विवेचन मिलता है, परन्तु कौटिल्य जैसी उदारता अथवा व्यावहारिक सूक्ष्मेक्षणा उनमें नहीं है। सारी व्यवस्थाओं के बाद भी कौटिल्य यही कहते हैं कि देश, जाति, गांव तथा संघ के लिए जैसा धर्मोचित तथा श्रेयस्कर हो वैसा ही "दाय-विभाग" होना चाहिए।[88] यह कौटिल्य की उदारता एवं प्रशस्त दृष्टि का प्रमाण है।

अर्थशास्त्र के धर्मस्थीय नामक तृतीय अधिकरण के पाँचवें, छठे सातवें अध्याय में कौटिल्य ने अत्यन्त विस्तार के साथ उत्तराधिकार के सामान्य नियमों तथा विशेष नियमों की व्याख्या की है। पैतृक क्रम तथा पुत्रक्रम से विशेष उत्तराधिकार की व्यवस्था भी कौटिल्य ने की है। यह व्याख्या इतनी सूक्ष्म है, वैज्ञानिक तथा तथ्यपरक है कि इसकी उपयोगिता को आज भी नकारा नहीं जा सकता है। विस्तारभय से इस व्याख्या के परिशीलन का भार विद्वान् पाठकों पर ही छोड़ा जा रहा है।[89]

गौतमस्मृति में कहा गया है कि पिता की मृत्यु के बाद माँ की रजोनिवृत्ति के अनन्तर अथवा पिता के जीवित रहते हुए ही, उसकी इच्छा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

से, पुत्रगण उसकी सम्पत्ति प्राप्त कर सकते हैं।[१०] गौतम औरस, क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम, गूढोत्पन्न तथा अपविद्ध को तो रिक्थभाक् बताते हैं, परन्तु कानीन, सहोढ, पौनर्भव, पुत्रिकापुत्र, स्वयंदत्त और क्रीत जो अपने गोत्र के नहीं हैं पालक पिता की सम्पत्ति के एक चौथाई के ही हकदार होंगे। गौतम की इस व्यवस्था में पौनर्भव को औरस आदि की कोटि में न रखना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। पौनर्भव की मां में भले ही दोष हो, परन्तु वह पुत्र तो अपना ही होता है, अतः उसे भी पूर्ण उत्तराधिकार प्राप्त होना चाहिए।

वसिष्ठ ने गौतम के दृष्टिकोण का समर्थन नहीं किया है। वह प्रथम (अर्थात् औरस) क्षेत्रज, पुत्रिकापुत्र, कानीन तथा गूढज के साथ ही साथ पौनर्भव को भी दायाद (उत्तराधिकारी) मानते हैं। इसके विपरीत सहोढ, दत्तक, क्रीत, उपागत, अपविद्ध तथा शूद्रापुत्र (पारशव) को अदायाद घोषित करते हैं।

वसिष्ठ धर्मशास्त्र में दी गई उत्तराधिकार की आनुपूर्वी भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका स्वरूप इस प्रकार है:

१. पिता की सम्पत्ति के दायाद (उत्तराधिकारी) औरस आदि ६ पुत्र माने जायें।

२. यदि ये छहो दायाद न हों तो सहोढ आदि छहो को या उनमें से किसी एक या कुछ को उत्तराधिकारी माना जाए।

३. यदि कोई दायाद। अदायाद पुत्र न हो तो उत्तराधिकार सपिण्ड पुत्रस्थानीय को दिया जाए।

४. सपिण्ड पुत्रस्थानीय भी न हों तो आचार्य (कुलगुरु) को उत्तराधिकार दिया जाए।

५. कुलगुरु के भी अभाव में उसके शिष्य को उत्तराधिकारी माना जाय।

६. शिष्य के भी अभाव में उस सम्पत्ति का उत्तराधिकार राजा को प्राप्त हो।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्मृतियों तथा अर्थशास्त्र में निरूपित विवाह, सन्तति तथा उत्तराधिकार की ये व्यवस्थायें यद्यपि देश, काल तथा व्यक्ति-सापेक्ष रही हैं, फिर भी इनमें कुछ ऐसे शाश्वत मूल्य अवश्य हैं जो आज की विधिप्रक्रिया को ठोस आधार देने में समर्थ हैं। उन शाश्वत मूल्यों का आज की विधि-व्यवस्था के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाना अत्यन्त आवश्यक है ताकि प्राचीन एवं नवीन के संतुलन से भारतीय विधिव्यवस्था को स्थिरायति दी जा सके।

संदर्भ

1. किं वा तेषां साम्प्रतं येषामतिनृशंसप्रायोपदेशनिर्घृणं कौटिल्यशास्त्रं प्रमाणम्।
—कादम्बरी (शुकनासोपदेशः)
2. तत्रैकः प्रोवाच-देव। द्वादशभिवर्षैर्व्याकिरणं श्रूयते। ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीन्यर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि।
—पञ्चतन्त्रम् (कथामुखम्)
3. विवाहपूर्वो व्यवहारः। —अर्थशास्त्र, 3.58.2
4. यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ —मनु० 3.77
ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता॥ —मनु० 3.79।80
5. स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधीर्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥
देवैश्चैव मनुष्यैश्च तिर्यग्भिश्चोपजीयते।
गृहस्थः प्रत्यहं यस्मात्तस्माज्ज्येष्ठाश्रमी गृही॥
त्रयाणामाश्रमाणान्तु गृहस्थो योनिरुच्यते।
तेनैव सीदमानेन सीदन्तीहेतरे त्रयः॥ अ० २
गृहस्थ की सामान्य परिचर्या (अ०) 9 सुधावस्तु, 9 सद्वय, 9 कर्म, 9 विकर्म, 9 प्रच्छन्न, 9 प्रकाश्य, 9 सफल, 9 निष्फल, 9 अदेय 9 नष्कज्ञान अध्याय-3
6. अयज्ञो वै एष योऽपत्नीकः। शतपथ०
7. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे। अष्टाध्यायी।
8. न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

9. कन्यादानं कन्यामलंकृत्य ब्राह्मो विवाहः । —अर्थशास्त्र 3.58.2
10. आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ —मनु० 3.27
11. जात्यादिगुणयुक्ताय पुंस्त्वे सति वराय च ।
कन्याऽलंकृत्य दीयेत विवाहो वेधसः स तु ॥
रेतो मज्जति यस्याप्सु सूत्रं च ट्वादिकेऽनिलम् ।
पुमान् स्याल्लक्षणैरेतैर्विपरीतैश्च षण्ढकः ॥ —बृहत्पराशरसंहिता 4.3/4
12. संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः । —पूर्वमेध, श्लोक ६
13. अप्रार्थितः प्रयत्नेन ब्राह्मस्तु परिकीर्तितः ॥ —शंखस्मृति 4.4
14. ब्राह्मो विद्याचारित्रबन्धुशीलसम्पन्नाय दद्यादाच्छाद्यालंकृताम् ।—गौतम०अ० 4
15. सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ —मनु० 3.30
16. प्रार्थितापप्रदानेन प्राजापत्यः प्रकीर्तितः । —शंखस्मृति अ० 4
17. एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मःस उच्यते । —मनु० 3.29
18. अन्तर्वेद्यामृत्विजे दानाद् दैवः । — अर्थ० 3.58.2
19. ये यज्ञे वर्त्तमाने तु ऋत्विजः कर्म कुर्वते ।
कन्याऽलंकृत्य दीयेत बिवाहः स तु देवकः ॥ —बृहत्पराशर० अ० 4
20. अन्तर्वेद्यृत्विजे दानं दैवः । —गौतमसंहिता अ० 4
21. मिथस्समवायाद् गान्धर्वः ।
22. इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥
23. नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात् । उत्तरमेघः ।
24. गान्धर्वः समयान्मिथः ।
25. यन्मिथः समयादिमां मदीयां दुहितरं भवानुपायंस्त तन्मया प्रीतिमता युवयोरनु-
ज्ञातम् । —शाकु० अंक 5
26. आसुरो द्रविणादानात् ।
27. ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ —मनु० 3.31
28. क्रयक्रीता तु या नारी न सा पत्न्यभिधीयते ।
न सा दैवे न सा पैत्रे दासीं तां काश्यपोऽब्रवीत् ॥ —कात्या० 3.49

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

29. न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णञ्शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥ —मनु० 3.51
30. प्रसह्यादानाद् राक्षसः । —अर्थ० 3.58.2
31. सुप्तादानात् पैशाचः । —अर्थ० 3.58.2
32. पैशाचः कन्यकाच्छलात् ।
33. असंविज्ञानोपसंगमनात् पैशाचः ।
34. सर्वेषां प्रीत्यारोपजमप्रतिषिद्धम् । —अर्थ० 3.58.2
35. इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ —मनु० 3.41
36. तिस्रस्तु भार्या विप्रस्य द्वे भार्ये क्षत्रियस्य तु ।
एकैव भार्या वैश्यस्य तथा शूद्रस्य कीर्तिता ॥ —शंखस्मृति
37. पितृप्रमाणाश्चत्वारः पूर्वे धर्म्याः । मातापितृप्रमाणाः शेषाः ।
तौ हि शुल्कहरौ दुहितुः । —अर्थ० 3.58.2
38. सविस्तार द्रष्टव्य, —अर्थ० 3.58.2
39. यस्मै दद्यात् पिता त्वेनां भ्राता वानुमतः पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न सन्त्यजेत् ॥
विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।
उपन्वर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ —मनु०
40. न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते । —मनु० 9.46
41. अमोक्ष्या भर्तुरकामस्य द्विषती भार्या भार्यायाश्च भर्ता । परस्परं द्वेषान्मोक्षः ।
—अर्थ० 3.59.3
42. सविस्तर द्रष्टव्य, —अर्थ० 3.59.3
43. श्वशुरकुलप्रविष्टायां विभक्तायां वा नाभियोज्यः पतिः । —अर्थ० 3.59.3
44. न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः । —मनु० 9.65
45. यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ —मनु० 9.69
46. नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ —पारा० 4.30
47. नीचत्वं परदेशं वा प्रस्थितो राजकिल्विषी ।
प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यः क्लीबोऽथवा पतिः ॥ अर्थ० 3.58.2
48. प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥ —मनु० 9.76

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

49. सविस्तर द्रष्टव्य, —अर्थशास्त्र, 3.60.4

50. ततः परं धर्मस्थैर्विसृष्टा यथेष्टं विन्देत । तीर्थोपरोधो हि धर्मवध इति कौटिल्यः ।
—अर्थ० 3.60.4

51. एतानुत्क्रम्य दायादान् वेदने जातकर्मणि ।
जारस्त्रीदातृवेत्तारः सम्प्राप्ताः संग्रहात्ययम् ॥ —अर्थ० 3.60.4

52. ब्राह्मणमधीयानं दर्शेत्वर्षाण्यप्रजाता द्वादश प्रजाता । राजपुरुषं आ-आयुःक्षयादाकाङ्क्षेत । सवर्णतश्च प्रजाता नापवादं लभेत । —अर्थ० 3.60.4

53. न चाकामः पुरुषः कुष्ठिनीमुन्मत्तां वा गच्छेत् । स्त्री तु पुत्रार्थमेवम्भूतं चोपगच्छेत्
—अर्थ० 3.58.2

54. शुल्कं स्त्रीधनम् । अशुल्कस्त्रीधनायास्तत्प्रमाणम् । आधिवेदनिकमनुरूपां च वृत्ति दत्त्वा बह्वीरपि विन्देत । पुत्रार्था हि स्त्रियः । — अर्थ० 3.58.2

55. सविस्तर द्रष्टव्य, —अर्थशास्त्र 3.59.3

56. ब्राह्मणक्षत्रिययोरनन्तराः पुत्राः सवर्णाः । एकान्तरा असवर्णाः ।—अर्थ०3 63.7

57. सविस्तर द्रष्टव्य, विष्णुस्मृति, अ० 15

58. सविस्तर द्रष्टव्य; वसिष्ठस्मृति, अ० 17

59. सविस्तर द्रष्टव्य, मनुस्मृति, अ० 9.159/160

60. सविस्तार द्रष्टव्य, याज्ञवल्क्य, दायविभाग 128 से 132 तक

61. द्रष्टव्य, पराशरसंहिता, अ० 4.23।24

62. सविस्तर द्रष्टव्य, अर्थ० 3.63.7

63. सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः ।
तेषां संकरयोगाच्च प्रतिलोमानुलोमजाः ॥

64. यस्तस्याः पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति या पित्रा दत्ता सा पुत्रिका । पुत्रिकाविधिना प्रतिपादिता पितृभ्रातृविहीना पुत्रिकैव । —विष्णु० अ० 15.

65. यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाकर्मशङ्कया ॥ —लिखितस्मृति

66. सविस्तर द्रष्टव्य, —मनु० अ० 9.48 से 56 तक ।
ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति ।
क्षेत्रिकस्यैव तद् बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥ —मनु० 9.54

67. स च पाणिग्राहस्य गृहे च गूढोत्पन्नः षष्ठः । —विष्णु० अ० 15
गूढे वा गूढोत्पन्नः षष्ठः । —वसिष्ठ० अ० 17

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः ।
स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ।। —मनु० 9.270

68. द्रष्टव्य याज्ञवल्क्य, दायविभाग, 129

69. या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ।। —मनु० 9.173

70. सगर्भोढायाः सहोढः । —अर्थ० 3.63.7

71. अथादायादास्तत्र सहोढ एव प्रथमो या गर्भिणी संस्क्रियते तस्यां जातः सहोढः पुत्रो भवति । —वसिष्ठ० अ० 17

72. स्वयंजातः पितृबन्धूनां च दायादः । परजातः संस्कर्तुरेव न बन्धूनाम् ।

73. दत्तको द्वितीयो यं मातापितरौ दद्याताम् । —वसिष्ठ अ० 17

74. माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः ।। —मनु० 9.168

75. मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ।। —मनु० 9.177

76. यत्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः ।। —उत्तरमेघ

77. श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति ।
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ।। —शाकुन्तल चतर्थ अंक ।

78. अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन । —रघुवंश द्वितीयसर्ग ।

79. क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।
स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ।। —मनु० 9. 174

80. या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा सा पौनर्भव उच्यते ।। —मनु० 9.172

81. पुनर्भूः कौमारं भर्तारमुत्सृज्यान्यैः सह चरित्वा तस्यैव कुटम्बमाश्रयति सा पुनर्भूः भवति । या च क्लीवं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमत्सृज्यान्यं पति विन्दते मृते वा सा पुनर्भूर्भवति । —वसिष्ठ० अ० 17

82. अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः । —याज्ञ० विवाह प्रक० 67

83. अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेताथो वरो यदि ।
न च मन्त्रोपनीता स्यात् कुमारी पितुरेव सा ।।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यावच्चेदाहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता ।
अन्यस्मै विधिवद् देया यथा कन्या तथैव सा ॥ — वसिष्ठ अ० 18

84. पाणिग्रहे मृते बाला केवलं मंत्रसंस्कृता ।
सा च त्वक्षतयोनिः स्यात् पुनः संस्कारमर्हति ॥ —वसिष्ठ अ० 18

85. पौराणिकस्त्वन्यः सूतो मागधश्च । ब्रह्मक्षत्राद् विशेषतः । —अर्थ० 3.63.7

86. सविस्तर द्रष्टव्य, —वृद्धहारीतसंहिता, अ० 4

87. औरसे तूत्पन्ने सवर्णास्तृतीयांशहराः । असवर्णा ग्रासाच्छादनभागिनः ।
—अर्थ० 3.63.7

88. देशस्य जात्याः सङ्घस्य धर्मो ग्रामस्य वापि यः ।
उचितस्तस्य तेनैव दायधर्मं प्रकल्पयेत् ॥ —अर्थ० 3.63.7

89. सविस्तर द्रष्टव्य, अर्थशास्त्र. अधिकरण 3 अध्याय 5, 6 एवं 7

90. ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा ऋक्थं भजेरन् । निवृत्ते रजसि मातुर्जीवति चेच्छति सर्वं वा पूर्वजस्येतरान् बिभृयात् । —गौतमस्मृति

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वैदिकवृषभ इन्द्रः

डा. शैलजा पाण्डेय

वैदिकदेवेष्वग्रगण्य इन्द्रो वक्ष्यमाणंविशेषणैर्भूषितः । सहसावन् (ऋ० ७।१९।७)। शवसः सूनुः (ऋ० ४।२४।१)। समद्वा (ऋ० ७।२०।३)। उग्रः (ऋ० ७।२०।१)। असुरवनकृशानुर्विशालदेही वृषा (ऋ० ४।२२।२) वृषणः (ऋ० ७।२०।५)।

सामान्यतया वृषभशब्दस्यार्थो भवति गोजातेर् जननसमर्थः पुरुषपशुः । विद्वद्भिरस्य शाब्दबोधः सुस्पष्टं कृतः। वैदिकभाष्यकार-शिरोमणिना सायणाचार्येण वृषभशब्दस्यार्थो बलवान् (ऋ० ६।४६।४), कामानां वर्षिता (ऋ० १०।२८।२) अपां वर्षिता (ऋ० ५।५८।६) च कृतः। दाण्डेकरमहोदयो वृषभेन्द्रं पुरुषप्रधानमानवनेतेति कथयति ('वृत्र-हेन्द्र':, एनाल्स आव् द भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना ३१, १९५०) । मोनियरविलियम्समहाभागेन वृषभः पुरुषत्व-ज्ञापको मतः (ए संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, वृषभ)। कोथमैक्डानलमहोदययोर-नुसारेण वृषभशब्दस्यार्थः पुङ्गवो वर्त्तते (वैदिक इन्डेक्स आव् नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स-२, पृ० ३२३) आप्टेमहोदयो वृषभपदार्थं श्रेष्ठमपि करोति। अतः वृषभस्यार्था बलवान्, कामनावर्षको, वृष्टिदायको, जननसमर्थः पुरुषः श्रेष्ठश्च ।

बलवान्

शूर (ऋ० ६।४७।११), उग्रश् (ऋ० ६।४७।१६), चर्षणीसह (६।४६।६) इन्द्रोऽतिबलसम्पन्नः । वृत्रादि-शत्रूणां वधस्तस्य वीर्यमु‌द्-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

घोषयति । बलस्याधिक्येनेन्द्रः प्रकृत्योग्रः । अस्य क्रोधात् सर्वे भीता भवन्ति। अस्य मन्युना शत्रुसेना सङ्ग्रामेऽपहततेजस्का भवति 'बाधसे जनान्वृषभेव मन्युना घृषौमीकह ऋचीषम् ।' (ऋ० ६।४६।४)

प्रकृतेरुग्रता पशुवृषभेऽपि दृश्यते । बलमदेन स युयुत्सुः । अतः स्वभावेनेन्द्रो वृषभः ।

श्रेष्ठः

इन्द्रो देवेषु श्रेष्ठो ज्येष्ठश्च । ऋग्वेदे सर्वाधिकाः स्तुतय ऽइन्द्रस्य लभ्यन्ते । उक्तं च—

'इन्द्र ज्येष्ठं न आ भरँ ओजिष्ठं पपुरि श्रवः ।'

(ऋ० ६।४६।५)

ऐतरेयब्राह्मणानुसारेणेन्द्रो द्वादशाहयागेन ज्येष्ठत्वं प्राप्नोत् (४।४।३)। कौषितकि ब्राह्मणकारेण स्पष्टतयोक्तं 'न वा इन्द्रादन्यदुत्तरमस्ति' (१७।४)। अत इन्द्रः श्रेष्ठत्वेन ज्येष्ठत्वेन च वृषभः। इन्द्रस्य प्रामुख्यं पुराणेष्वपि परिलक्ष्यते । तत्र स देवराड् वर्त्तते ।

कामनावर्षकः

भक्तजनानां कामनायाः पूरयितेन्द्रो वेदेषु बहुधा गीतः । स्तोतृजनानां सन्तुष्टयर्थं तेषां रक्षार्थं चेन्द्रः सदैव तत्परो वर्त्तते। वृत्रवधो लोकहितायेन्द्रकृतं सर्वाधिकमहत्त्वपूर्णं कृत्यम् ।

इन्द्रो दानेन स्तोतृजनानां कामपूर्ति करोति। संहितास्वस्य दानकर्मणो महती प्रशंसा वर्तते । तस्य दानानि विविधप्रकारकाणि ।

स धनप्रदाता । तस्य धनं दिव्यं पार्थिवं चोभयविधं भवति (वाजसनेयी संहिता, ३।१०) उपासका इन्द्रादुपभोग्यं पुत्रादिसमन्वितं धनं याचन्ते (ऋ० २।११।२०) । उदिते च सूर्ये इन्द्रो धनदानं करोति (ऋ० ५।३३।६) । स यजमानाय शत्रुधनस्यापहरणङ्करोति (ऋ०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

५।३४।७)। इन्द्रप्रदत्तं धनं श्वेतवर्णं भवति (ऋ०५।३३।६) धनप्रदानेन इन्द्रो धनदा (ऋ० १।३३।२) वसुदा (ऋ० ८।९९।४) मघवा (ऋ० १।३२।३) चोक्तः।

इन्द्र उपासकेभ्योऽभिलषितरूपं ददाति। रूपप्रदानेन स 'सुरूपकृत्नुः' कथितः (ऋ० १।४।१)।

इन्द्रो गोप्रदाता। अयं गवामधिपतिरुक्तः। इन्द्रः स्तोतृभ्यो गा ददाति (ऋ० १।४।२)। गोप्रदानेन स गोदा (ऋ० ३।१०।२१), गोपतिश्च (ऋ० १।१०१।४) कीर्तितः।

ज्ञानाभिलाषिजनानां कृत इन्द्रो ज्ञानप्रदाता। स ज्ञानपिपासुजनाय ज्ञानं ददाति (वाजसनेयी संहिता ३४।१८)।

इन्द्रः स्तोतृभ्यः पत्नीर् ददाति। ऋग्वेद इन्द्रस्य पत्नीदानं गीतम्—

'अददा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते।
मेनाभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो विश्वेत्ता ते सवनेषु प्रवाच्या॥'

(ऋ० १।५१।१३)

इन्द्रः कक्षीवते राज्ञे वृचयाख्यां तरुणीं योषितं प्रादात्।

इन्द्रः पुरुषत्वस्यापि प्रदाता। स पुरुषत्वस्य वृषण्यसंज्ञकेनौषधेन सम्बद्धः (अथर्ववेद—४।४।४)

उपासक इन्द्रं 'त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वतिमद्' गृहं याचते (ऋ० ६।४६।९)। इन्द्र उपासकेभ्यः सुवर्णं, सूर्यमश्व-(ऋ० ३।१४।९) मौषधं, दिनं, वनस्पतिमन्तरिक्षञ्च' (ऋ० ३।३४।१०) ददाति।

पुरुषः

इन्द्रः सेचनसमर्थः पुरुषत्वप्रतीको देवः। ऋग्वेदस्य वृषकपिसंवादे (१०।८६) तस्य पुरुषत्वं वर्णितम्। इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी भूत्वा गौरवान्विता भवति। इन्द्रस्य पौरुषेण शचीतराः स्त्रियह आकृष्टास्तस्योपासिका अत इन्द्राणी सपत्नीजन ईर्ष्यामनुभवति (ऋ० १०।१४५)।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इन्द्रस्य पुरुषत्वं तत्र कामलोलुपतामुत्पादयति । ऋग्वेद इन्द्रः 'सहस्रमुष्कः' (६।४६।३) कथितः । शब्दप्रसङ्गेऽस्मिन्नाचार्यसायणः कथमति—'सहस्रमुष्कः सहस्रशेफः । यां कां च स्त्रियं संभवन्निन्द्रो भोगलोलुपतया स्वशरीरे पर्वणि पर्वणि शेफान् ससर्जेति कौषितकिभिराम्नातम् । तदभिप्रायेणेदं सम्बोधनम् ।' काठकसंहितायामपि इन्द्रस्य कामप्रसङ्गो वर्णितः—

'इन्द्रो वै विलिस्तेङ्गां दानवीमकामयत् ।
सोऽसुरेष्वचरत् स्त्र्येव स्त्रीष्वभवत् पुमान् ।।'

(१३।५)

अयं भावोऽपालाकथाप्रसङ्गेऽपि निर्दिष्टो भाष्यकारेणाचार्यसायणेन । पुराणेषु अहल्याकथा (वाल्मीकिरामायण) जनमेजयाख्याने महिष्या वपुष्टमया सहेन्द्रप्रसङ्गः (हरिवंशपुराण) प्रसिद्धः ।

इत्थं जननसमर्थ इन्द्रः सहजः स्वेच्छाचारी कामुको वृषभः ।

वृष्टिदेवता

वृष्टिदेवतारूपेणापीन्द्रो वृषभः । पुरुषवृषभो रेतस्सेचनसमर्थो भवति । वृष्टिदेवरूपेणेन्द्रो वृष्टिजलेन पृथिव्याः सेचनङ्करोति । तस्य सेचनेनौषधीनां जन्म भवति ।

इन्द्रवृत्रसंघर्षे वृत्रेनाच्छादितं मेघस्थं जलं पृथिव्यामायाति (ऋ० २।१५।३) इन्द्रः क्रुद्धो वृषभ इव मेघांश्छिन्नत्ति (अथर्ववेद, २०।१७।८) ।

पौराणिकसाहित्य इन्द्रो वृष्टिदेवरूपेण सुतरां प्रतिष्ठितः । महाभारतस्यादिपर्वणि खाण्डववनदाहप्रसङ्गे ऋषिगणैः स्तुत इन्द्रो दयार्द्रो भूत्वा वृष्टिमकरोत् । क्रुद्धः सन्निन्द्रोऽनावृष्टिरूपेणातिवृष्टिरूपेण वा जनान् दण्डयति । भागवतपुराण (१०।२५।१५) इन्द्रो व्रजगोपैरपूजितो भूत्वाऽतिवृष्टिमकरोत् । तत्रैव हरिवंशपुराणे राज्ञः सत्यव्रतस्याचरणात् क्षुब्धस्तस्य राज्ये द्वादशवर्षपर्यन्तमनावृष्टिमकरोत् ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संक्षेपेण वृषभपदेनेन्द्रस्य चरित्रं स्फुटं भवति। इन्द्रस्येदं विशेषणं सार्थकम्—

'यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम
एकः कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वाः।
यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य
प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः,॥

(ऋ० ७।१९।१)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सूर्य की क्षति-पूर्ति

—डा. नागेन्द्र नागर

ॐ त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।

त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ

—ऋग्वेद १।९१।२२

यव (जौ) चावल इत्यादिक ओषधि चन्द्रमा ही उत्पन्न करता है। जल एवं गाय भी सोम से ही संभूत हैं। ओषधि, जल एवं गो रस (दूध) इत्यादिक में सोम ही प्रचुरता से अभिव्याप्त है।

आकाश को भी सोम ही विस्तीर्ण करता है। समस्त आकाश में सोम ही व्याप्त है।

सूर्य-किरणों के संसर्ग से सोम ही प्रज्वलित होता हुआ ज्योतिरूप से अंधकार दूर करता है।

लोक में भी घी, तैलादिक में स्थित चन्द्र ही अग्नि के सम्पर्क से दीपकादिकों में प्रकाश-रूप से अन्धकार को दूर करता है। सूर्य सोम आकाश में ऋत-रूप से स्थित है।

शतपथ ब्राह्मण में भी उल्लिखित है:

'अन्नादेवाग्निरभवदन्नं सोमोऽन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नं च'

—शतपथ ब्राह्मण ११।१।६।१९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सोम अन्तरिक्ष में ऋत रूप से स्थित है। तथा अग्नि केन्द्राधार में स्थित है। उस (अग्नि)-को सत्त्व कहते हैं। यह अग्नि विकास-शील होकर केन्द्र से बाहर चारो ओर विकास करती हुई अभिव्याप्त होती है।

सोम संकोचशील है तथा चारो ओर संकुचित होता हुआ अग्नि में गिरता है। यही सोम अग्नि की आहुति वैदिक विज्ञान मानता है।

अग्नि में हवन किया सोम अग्नि रूप होता है।

इसी को रूपान्तर प्राप्त संगतिकरण यज् धातु का अर्थ वेद उद्बोधित करता है। चूंकि सोम विकासशील है, अतः अग्नि-रूपता को प्राप्त करके बाहर आता है। यही सोम दूर फैलता हुआ केन्द्र सम्बन्ध त्याग कर पुनः सोम-रूपता को प्राप्त होता है।

यह अग्नि सोम-अन्योन्य-रूपतापत्ति-स्वरूप-चक्र निरन्तर संसार में प्रवृत्त रहता है। इसी को प्राकृतिक यज्ञ कहते हैं।

निरन्तर उष्ण प्रकाश उद्भासित करता हुआ सूर्य समस्त स्थान पर संक्रमित होता है। इसको आधुनिक विज्ञान प्रतिपादित करते हैं। इस के परिमाण अनन्त कोटि परिमित की व्याखया करते हैं। किन्तु वैज्ञानिक आज तक इस सिद्धान्त को निश्चित नहीं कर सके हैं कि प्रतिक्षण उत्पन्न हो रहा सूर्य-मण्डल क्षति कैसे पूर्ण करता है ?

वैदिक विज्ञान अनादि काल से ही "सूर्य-मण्डल-क्षति" सिद्धान्त को निश्चित कर चुका है।

"भूर्भुवः स्वः" में आया "स्वः" स्वर्-लोक है। वही सूर्य-मण्डल है। इसके ऊपर मर्त्य लोक (अन्तरिक्ष) है। एवं उसके ऊपर जन लोक है। यहीं सोम लोक है। उससे निरन्तर अनन्त कोटि गुना सोम प्रतिक्षण सूर्य-मण्डल में आहुति रूप से आप्लावित होता है। उसी सोम को अग्नि-रूप से प्राप्त करके सूर्य संसार को प्रकाशित करता है। यही निरन्तर सोमाहुति है।

"आहुत्याप्यायते सूर्यः" इत्यादिक मन्वादिक स्मृतियों में संकेत प्राप्त होता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भारत में जो यज्ञ होता है उस में घृतादिक के द्वारा हवन होता है। उसके अन्तर्गत जो सोम है, वही सोम सूर्य किरणों के द्वारा सूर्य-मंडल को जाता है।

जिस प्रकार नेत्र कज्जल सुखमय, रोग-निवर्त्तक और दृष्टिवर्धक होता है, उसी प्रकार सोमाभिषिक्त आहुतियां भी प्राकृतिक यज्ञ द्वारा सूर्य की क्षति पूर्ति करती हैं।

जिस प्रकार दीपक के अन्दर तेल कम होने पर पुनः तेल डालने पर दीपक विशिष्ट प्रकाश से प्रकाशित होने लगता है, उसी प्रकार सूर्य सोम प्राप्त कर पुनः पूर्व रूप प्राप्त कर प्रकाशित होता है।

आजकल जब विद्युत् के दीप (बल्ब) तेज (वोल्टेज) के अभाव के कारण मन्दे होकर टिमटिमाने लगते हैं तब तेज बढ़ाने पर विशिष्ट ज्योतिर्मय प्रकाश से प्रकाशित होने लगते हैं, उसी प्रकार सूर्य में भी प्रतिक्षण प्रकाश की जो निरन्तर क्षति हो रही है, वह सोम पूर्ण करता है।

सूर्य की चारो दिशाओं में व्याप्त जो मूलभूत अग्नि है, वही सूर्य-मण्डल-शक्ति से चारो ओर सूर्य के प्रकाश को प्रकाशित करती है।

फिर वह प्रकाश सोम के संसर्ग से सूर्य में अभिव्याप्त होता है। इस प्रकार निरन्तर सूर्य की क्षति की पूर्ति होती रहती है।

यही वैदिक विज्ञान का सिद्धान्त है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

काश्मीरे संस्कृतम् पूर्वतोऽनुवृत्तम्

—दीनानाथयक्षः

इतः पूर्वं काश्मीरे संस्कृतमित्यस्य निबन्धे मया संस्कृतस्थितिं यावच्छक्यं दर्शयितुं प्रयत्नः कृतः। अथात्र भारतभारतीविद्वद्भिर्लुण्ठ्यमानमपह्रियमाणञ्च संस्कृतिमूलकं भारतभारतीयत्वप्रशंसि संस्कृतं वीक्ष्यास्योद्धाराय संस्कृतप्रणयिनो विविधं प्रयेतिरे। त्रयस्त्रिंशदूर्ध्वं-त्रयोदशशततमात् खिस्ताब्दादारभ्य त्रिंशदुत्तराष्टादशशततमखिस्ताब्दं यावत् संस्कृतस्य तथात्र प्रादुर्भूतस्य शैवदर्शनस्य सर्वथा ह्रासरूपो विलोपोऽजनि। अस्मिन्नेवानेहसि महामहिमशालिनां महत्त्वपूर्णानां ग्रन्थरत्नानां नाशोऽभूत्। किंच मठेष्ववस्थितानां विद्यावेश्मनां प्रत्नाः पुस्तकालयाः सार्वात्म्यरूपेण विदाहिता नाशिताश्चाभूवन् येन प्रत्नां काश्मीरिकीं शैक्षणिकीं सरणिं पद्धतिञ्च ज्ञातुमनलम्भूष्णवः स्मः। मध्ययुगे तु कलापकातन्त्रव्याकरणामरकोशादयोऽत्र पाठ्यक्रम उपयुज्यन्ते स्म। एवमेवादिकालीनां पाठ्यप्रक्रियामनुमातुं न शक्यते। अथ काश्मीरे पञ्चशतात्मके कालक्रमे प्राक्तन्याः पठन-पाठन-परिपाट्या नेषदपि संस्कारोऽवशिष्टः। अथ कश्मीरेषु शनैः शनैः पारस्यभाषाभिक्रमकाले माध्यमिके युगे जोनराजश्रीवरभट्टजगद्धरवल्लभदेवाह्लादभट्टभक्तयारश्रीवकादीन्विहाय न कोऽपि लेखको दृग्गोचरीभवति। पूर्वोक्ता इमे लेखकाः स्वस्वशासकानां तटस्थतामेव प्रायेण व्यक्तीकुर्वन्तीति ते तत्तच्छासकस्य तटस्थतामये युगे प्रादुर्बभूवुः। अमीषां कृतयः काश्मीरे तस्माद्बहिश्च सर्वत्र विलसन्ति। अस्मिन्नेव समये शैवदेशिकैः सार्धं शैवशासनलेखकानां प्रायशोऽभावोऽजनिष्ट। परं क्वाचित्कतया शैवसाधका गुप्तमगुप्तं वा दरीदृश्यन्ते स्म

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

येनाद्य तावदप्यंशांशिकयाप्येतत्प्रभाविताः काश्मीरिकाः सन्तो लक्ष्यन्ते। उत्तरोत्तरञ्चात्र पारस्यभाषायास्तदुपजीव्यस्य साहित्यस्य च चतुरस्रमुदयोऽजनि। न केवलं तत्परिपोषका यवना एव पारस्यसाहित्यस्रष्टारः समभूवन्नपि तु काश्मीरिकपण्डिता अपि पारस्यभाषायामप्यत्र श्रीवृद्धिञ्चक्रुः। परमस्मिन्नेव युगेऽत्र संस्कृतसंस्कृतेर्विप्रलोपः पराकोटिमागतः। अथ कालेन सिखशासनकालेऽपि राजभाषारूपेण पारस्यभाषैव प्राधान्यं भेजे। वृत्तिहेतोः सर्वे ब्राह्मणाः पारस्यभाषामेव पेठुरिति ते सर्वथा पारस्यभाषापठन एव परिश्रमञ्चक्रिरे। परिणामतो बहवः काश्मीरिकपण्डिताः काश्मीरे पारस्यसाहित्यसृजो बभूवुः। फलतः पारम्परिक्याः कुलक्रमागताया गीर्वाणगिरो ह्रासोऽजनिष्ट इतश्च प्रशासका यवनाः पारस्य-भाषां राजभाषापदासीनां द्रष्टुं नितान्तमुत्सुका आसन्। चतुर्दशशतकारम्भेऽव्युत्पन्नाया संस्कृति वा च स्थाने पारस्यभाषा राजभाषापदासीनाऽभूत्। सर्वत्र सर्वतश्च पारस्यभाषाया एव डिण्डिमारावः सर्वकारीयकार्यकलापे तस्माद्बहिरप्यश्रूयत। कुलक्रमायातानां पण्डितानां विरोधोऽपि सर्वथाऽकिञ्चित्करो जातः। न पठेद्यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपीत्येषां प्रमुखो विश्रुत आभाणकोऽपि कालगर्भ एव निलीनोऽभूत्। दुर्यवनानां जघन्यदुर्दम्यनीतेः पुरतः स्थातुं ते न चक्षमिरे। यवनात्याचारस्य विविधाः कुत्सिता वार्ता अद्यापि यत्र तत्र वृद्धजनेभ्यः समाकर्ण्यन्त एव। केचन पितृपैतामहिकीं जन्मभूमिमुज्झित्वाऽपुनरागमनाय पलायाञ्चक्रिरे। कैश्चित्प्रवसद्भिः पलायनपरैश्च मध्येमार्गमेवासवः समुत्सृष्टाः। केचन प्रवासेऽपि नितरां क्लेशभाजो बभूवुः। केचन निजनैसर्गिकपाण्डित्यमण्डिताः सहजप्रतिभाप्रतिभाताः प्रवासेऽपि प्रोच्चां पदवीमधिजग्मुः। केचनाल्पसामर्थ्यहेतोरशक्ततया सुदुर्लभेषु यातायातमार्गेषु सर्वकारद्वारा प्रचालितेन परदेशगमननिषेधादेशेन वार्यमाणा उपत्यकायामेव पुटपाकवद् विविधैरमानवीयैरभद्रैरशिष्टैरत्याचारैः कष्टानि विषेहिरे। परे प्राणाञ्जहुः परःसहस्रा असहिष्णवो जनाः स्वां जातिं दूषयामासुः परधर्मञ्चाशिश्रियिरे। यावनतेजोऽसहिष्णुभिरत्र प्रायेण ब्रह्मक्षत्रविडन्त्यजैः सममेव स्वीयो

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गरिमगुरुर्धर्मः समुज्झित एव। किम्बहुना । परधर्षणासहनशीलैरत्रत्यैः क्षात्रैरपि पराभिभवहेतोः स्वीयं क्षात्रं तेजः समुत्सृष्टमेव । परिणामतस्तेऽपि स्वजातिधर्मोत्सर्गे वैवश्यमापेदिरे । बहुसंख्यकैः सौगतैस्तथागतधर्ममर्यादा-परिपाटीः समुज्झित्यानायासं यवनधर्मं स्वीकृत्य स्वचैत्यानि यवनधर्मा-गारेषु यथातथं परिवर्तितानि येनाद्यत्वेऽपि तेषां चन्द्रशालास्वट्टालिकासु पगोडारूपेण तथागतधर्मशंसीनि लक्ष्माणि निभाल्यन्ते गवेषणापरैरनु-सन्धातृभिश्च परिशील्यन्ते । ब्राह्मणधर्मास्तिक्योद्भावकानि परमपवित्राणि देवधामानि प्रायेण यवनयाञ्चालयेषु परिवर्तितान्येवाभूवन् येषां सुरमूर्तयः सर्वथा विध्वंसिताः काश्चन वितस्तानदनदीकूपेषु प्राक्षिप्यन्त येन वास्तुस्थापत्यकलायाः सुस्पष्टमादर्शभूतानि चिह्नानि तथा प्रचुर मात्रया नोपलभ्यन्ते यथा तेषामुपलब्धेरासीत् संभावना । न चापि स्थानीय-पुरातत्त्वविभागस्यासन्तोषावहेन गतिविधिना निखातानि भूमिसाद्भूतानि तान्युपलब्धानि भवितुं शक्यानि भवेयुः । अथाचिरेण फतेहकदलाभ्याशे दूकानिसङ्गीनमुहल्लाभ्यन्तर एकस्य यवनदेवालयस्य जीर्णोद्धारक्रियया-ऽधःपातितस्य सुरम्या देवमूर्तयः सुवाच्यः शिलालेखः समधिगता अभूवन् या बुलबुलालङ्कारमठवद् यवनैर्निर्दयं टङ्कैरस्मत्समक्षमेव विध्वंसिताः। ईदृशीषु परिस्थितिषु पुरातत्त्वकार्यालयः संसूचितोऽकिञ्चित्करोऽव-तिष्ठते । अस्मादेव हेतोः प्रायेण काश्मीरेषु समग्राः समुपलभ्यमानां यवन-देवालया मूलतो हिन्दुत्वसंस्कृतिमूलका एव। अस्मिन्नेव युगे सहस्रशः काश्मीरसंस्कृतिसभ्यतानिदर्शकाः प्रत्नग्रन्थरत्नराशिर्नितरां कथाशेषतामेव गतोऽभूत् । अनन्तैर्ग्रन्थरत्नराशिभिः पद्ममहातद्मोपकण्ठभूता अनूपदेशा पूरिता अभूवन् येन साधिनामुसुत्थसेतुप्रदेशा (सत्थू) अद्यापि वृद्धैर्गुरुजनैः स्मार्यन्ते । प्रायशो भूसुरैरपि स्वधर्मपरम्परानुकूलं विद्यामार्गमुत्सृज्य राजप्रजोभयमता यावनी विद्यैवोपाश्रिताऽभूद् यद्वशात्ते राजकीयवृत्त्युपार्जने क्षमा बभूवुः। शारदामहत्त्वमजानानैर्यवनैः प्राचीनपरिपाटीनिबद्धानां विद्यावेश्मनां सर्वथाध्वंसोऽक्रियत तत्स्थाने नवीनयवनपरिपाटीप्रचालि-तानि विद्यावेश्मानि प्रतिष्ठां प्रापुः । विप्राणां ह्यनुरञ्जनाय कदाचिदुदारा-शयभूतेन जैननृपतिना (1420-60) ब्राह्मणत्वसंस्कारधर्मसंरक्षणाय भट्टजा-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तिर्गुरु (पुरोहित)-कारकुनयोर्विभाजिताभूद् ययोरेको हिन्दुसंस्कारपरिपालकः परिपोषकश्च निर्धारितोऽभूदपरो राजकीयशासनभारोद्वहनक्षमः कारकुनाभिध उपक्लृप्तोऽभूद् यावद्यापि दृष्टिपथमवतरतः । तत्रादिमेन वर्गेण द्वितीयेन च कालक्रमेण परम्परायातः स्वकीयः क्रमः शनैः शनैः परित्यक्तुं समारब्धः । तत्रादिमवर्गीयेणानेकानि कृच्छ्राण्यनुभूय सन्तोषवृत्त्या क्षुच्छीतातपादिकमप्यविगणय्य वत्सराणां पञ्चशतीमभिव्याप्य विप्रत्वसंस्कृतिसभ्यताया रक्षणस्य भरो निर्व्यूढः। अथ पौरोहितीं वृत्तिमाचरन्तो गुरुवर्गीया (गोर) विप्रा एव पुरोहितोपयोगिनीं ज्योतिर्विद्यां संस्कृतभाषाञ्च स्ववर्गीयेभ्यः पण्डितेभ्यः सुगुप्तमधीयते स्म । कारकुनवर्गीया विप्रा अपि पारस्यभाषाशिक्षणात्प्रागेभ्यः सकाशात् स्नानविधिसन्ध्योपासनादीनि स्वधर्मक्रियोपयोगीनि पुस्तकानि रहो वाचयन्ति स्म । इतश्च यवनमतप्रसारप्रचारोद्रेकाय यज्ञोपवीतधारणस्य शवदाहस्य च कृते यवनशासकैर्दुःसहस्तीव्रः करो निर्धारितोऽभूद् यस्योत्कटं भारमसहिष्णुभिः करप्रदानाक्षमैरनेकैर्विप्रैः स्वजातिरुज्झिताऽभूत् । यस्तावत् परस्तात् काश्मीरभूपरिवृढेन यवनशासकेन जैन् अल-आब्दीनेन दयया मनाङ् न्यूनतां नीत आसीदिति जैनराजतरङ्गिणीतो ज्ञायते । नरेशोऽयं स्वतन्त्रकाश्मीरयवनशासकेष्वकबरसार्वभौमवदुदाराशयः कूटनीतिज्ञश्चासीत् । अथ प्राचीनसभ्यतासंस्कृतिवाचकानां भूर्जग्रन्थानां विषय एवमनुश्रूयते यत् पद्म[1]सरोऽभ्यर्णवर्त्तिनः प्रदेशास्तथा [2]माक्षिकस्वामि श्री[3]शैतलनाथभैरवीपान्त्यवर्त्तिनो महाश्मशानस्था अनूपप्रायाः प्रदेशा महार्घैर्भूर्जग्रन्थैरेव पूरिता अभूवन् । अन्ये तु नौष्वारोप्य महापद्मसरसि प्रायेण प्रक्षिप्यन्ते स्म । अद्यापि तत्र सुदीर्घतमेन नौकादण्डप्रचालनप्रयोगेणागाधातलगभीरस्थानेषूत्तोल्य भूर्जपत्राणि प्रवाह्यन्त इत्येकैरनुभूतचरो ह्येषविषयोऽस्माभिस्तु श्रुतचरः । पूर्वं सर्वकारीय-कार्यकलापस्तु संस्कृते ततः पारस्यभाषामाध्यमेन सर्वत्र काश्मीरे प्रवर्तते स्म कतिपयैरुदारयवनराजभिः संरक्षिता अपि विहारादिमठस्थाः पुस्तकालया भस्मसान्नीता अभूवन् । काम्बोजदेशस्यायत्तभूते काश्मीरमण्डलेऽस्मिन् पुष्टाङ्गाना-(पठान)मनिर्वचनीयैरत्याचारैः काश्मीरिका नितरां पीडिता अभूवन् । प्रायोऽतीतयवनदुराचारेभ्यः

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कथञ्चिदुज्जीविता विप्रजातिरियमनेकैरायासैः क्लेशिता तदा नितरां खिन्नाऽभूत् । तेषां बलात्कार-धर्मपरिवर्तनसतीत्वविभ्रंशजीवद्दाहसुरागार-विध्वंसरूपा दुःश्रव्या अत्याचारात्मकाः काश्मीरे परम्परया श्रूयमाणा हृदयविदारका उदन्ता अद्यापि श्रूयन्ते । न केवलं तदानीं संस्कृतभाषा विरलप्रचारापि तु सर्वतः सर्वथा लुप्तप्रचारा बभूव । तत्स्थाने च सर्वत्र पारस्यभाषैव प्रयुज्यते स्म । यथा पूर्वं काश्मीरगीर्गीर्वाणगिरा प्राचुर्येण प्रभाविता सम्पृक्ता चाभूत्तथैव तदानीं पारस्यभाषा भूयिष्ठा बभूव । गृहे गृहे तस्या निरर्गलं प्रचारोऽजनि । अस्या एव केचन विद्यालयास्तानीं प्रवृत्ता आसन्नित्यब्रार-उल-अस्रारतो ज्ञायते येषु आरब्यभाषा पारस्य-भाषया सह यथा नियममध्याप्यते स्म । अथ यवनशासकैर्विप्रा राजभाषा-परिशीलनाय यथा वैवश्यमापादितास्तथा तत्पूर्वमभिहितप्रायमेव । ईदृश्या-मेव परिस्थितौ संस्कृतभाषा विकासोन्मुखी न संवृत्ता । अयमेव मुख्यो हेतुर्यदप[4]घानशासनकाले न कोऽपि गीर्वाणगिरि ग्रन्थकार उदभूत् । युगमिद-मन्धतामिस्रावृतमासीत् । किञ्चेयं भाषा शारदाजन्मभुवि काश्मीरधराया-मपरात्वमासाद्य चिरायोपरताऽभूत् । परमद्यापि द्विजजनोचिताः संस्काराः संस्कृतभाषामाध्यमेनैव ब्राह्मणसमाजे प्रचलन्ति । प्रायेण प्रातः सायमीश-वन्दनादिकमपि भूम्नेमामेव सुरवाणीं द्वारीकृत्य प्रवर्तते । दुरदृष्टवशादुद-र्कोऽसमीचीनो गीर्वाणगिरः काश्मीरे दृश्यते । पण्डिततल्लजैर्विप्रैरत्राधुनेयं पुरोहितवर्गस्य पैतृकं रिक्थमिति विभाव्यावहेल्यते । प्रायेणाधुना संस्कृता-ध्ययनशीलाः संस्कृतपरायणा विप्रवर्गस्थाः पुरोहिता अपि लोके जघन्यया दृशा समीक्ष्यन्त इत्यनेनैव हेतुना तैरपि गिरोऽस्या अपमानो विहितः । कारकुनवर्गमनुकुर्वद्भिस्तैः पारम्परिकः स्वीयः शिष्टाचारोऽपि परित्यक्त-प्राय एव । वर्गोऽयमपरपक्षानुकरणे स्वं गौरवं मन्यमानः परिदृश्यते । पूर्वपक्षीयेण वर्गेण स्वामानुवंशिकीं कुलक्रमागतां रीतिं विहाय नव्या स्वेच्छोद्भाविता स्वतन्त्रधर्ममतपद्धतिराश्रिता यामनुसर्तुमुत्तरोत्तरं तेन समुत्कण्ठचते । गौरवञ्च मन्यते । अयमेव वर्गः पुरा प्राणानप्यविगणय्या-नेकानि कष्टानि परिमृष्य स्वधर्मसंस्कृतिं ररक्ष । अधुना तेषां गृहेषु स्वाध्यायाग्निहोत्रेशवन्दनादिकं कर्म नियमेन न प्रचलति यदर्थन्तैर्यवन-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शासनकाले सुमहान्त्यननुभूतपूर्वाण्याभीलानि सोढान्यासन् । अद्यत्वेऽनभिज्ञेन कारकुनवर्गेण क्रियमाणं न्यक्कारं वीक्ष्य प्रायेण स्वां गौरवास्पदभूतां जातिमपह्नुवानाऽपरेण प्रतिवर्गेण सह विवाहादिसम्बन्धेम सम्पर्कं जनयितुं गौरवं मन्यन्ते । अत्राज्ञकारकुनवर्गकर्तृकोऽपमानोऽप्यन्यतमो हेतुरध्यवसीयते । सम्प्रति सर्वतः सर्वथोभयवर्गीयेण स्वीयं कर्तव्यमुज्झितमस्ति । स्वदेशगौरवविषये श्रीबिल्हणकवेर्गर्वोक्तिरियं यत्र स्त्रीणां…जन्मभाषावदेव प्रत्यावासं विलसति वचः संस्कृतं प्राकृतं वेति सार्वात्म्येनैतर्हि विपरीतैव प्रतिभाति । नेह तादृग्विधाऽवस्थाऽधुनोपलभ्यते याऽवास्तवाऽभूतपूर्वाद्भुतमयीव लक्ष्यते । कालगर्भे लीनोऽसौ कालः कालेनाभूत् स पारस्य भाषामयस्तदुद्भावको राजप्रजोभयसम्मतः । अधुनाऽयमेवाङ्गलभाषामयो जातः । एतर्हि प्रतिग्रामं प्रतिगेहं प्रतिनगरं प्रतिशाखानगरमाङ्ग्लभाषाया अप्रतिहतं निरर्गलं साम्राज्यं विलसति । इयमेव सर्वत्र सर्वस्य कर्णशष्कुलीः पूरयन्ती समालोक्यते । पूर्वमार्टमहाविद्यालयेषु वैकल्पिकीयं भाषा परमादरणीयत्वमभजत । अधुनात्र द्वित्रान् महाविद्यालयान्विहाय नान्येषु भाषेयं दृश्यते । अन्यत्र तु विज्ञानस्यैव समादरो विलोक्यते । इतश्चानेकैः पण्डितैरज्ञानवशात्तथाऽचिरेण स्वीकृतयवनधर्मैभिर्नव्यैर्यवनैर्विद्वेषात् सुमहत्त्वपूर्णानि नैकविधविषयामर्शीनि भूर्जग्रन्थरत्नानि विध्वंसितानि । येनाधुनोपलभ्यमानविविधविषयसंवलिते काश्मीरसंस्कृतसाहित्ये परःसहस्राणामुद्धृतग्रन्थरत्नानां नाममात्रं विहाय न कुत्राप्यस्तित्वं लभ्यते । यवनधर्मप्राधान्याद्देवालया विहारा मठाश्च स्वान्तर्वर्तिभिः पुस्तकालयैः सार्धमेव पूर्वरूपं विहाय स्वान्तर्वर्तिनः सभ्यतासंस्कृतिशंसिनः पुस्तकालयान् नाशयित्वा संज्ञान्तराणि दधिरे । केषाञ्चिद्यवनपुङ्गवानां गृहेषु संस्कृतमातृका अद्याप्युपलभ्यन्ते यास्तु बलवद्विद्वेषाग्निदग्धैस्तैर्लोकोपकृतये सर्वकारसान्न क्रियन्ते । यत्र कुत्राप्युपलभ्यमानं शारदाक्षरलिखितं भूर्जग्रन्थजातं तैर्विध्वंस्यते स्मेत्यस्माभिरनेकशः श्रुतचरमस्मत्पूर्वजैश्च दृष्टम् । अथ काश्मीरे प्रत्नसारगर्भतत्त्वजातेन सार्धं सर्वत्र समन्ततश्च फिरङ्गैर्मूल्येन नीयमानं लुण्ठ्यमानञ्च प्रत्नग्रन्थरत्नराशि बिलोक्य काश्मीरनरेशः श्रीरणवीरसिंहोऽभिनवमेकं कार्यालयं

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्वराज्ये समुद्घाटयामासेति पूर्वलेखे निर्दिष्टप्रायमेव यत्र मातृकाणां प्रतिलिपिकरणं संस्कृतग्रन्थानां यवनाङ्गलदेशीयविशिष्टचिकित्साग्रन्थानां विश्वस्य प्रमुखसभ्यदेशोद्भवदर्शनशास्त्राणां तदानीं भारते नवागतायाः पाश्चात्यसैनिकशिक्षासरणेर्गीर्वाणगिरि रूपान्तरन्तथा धनुर्विद्यायाः श्यैनिकशास्त्रस्य च हिन्द्यामनुवादात्मकं कार्यं प्रतिनियतमासीत्। अतोऽतिरिक्तं विश्वे समुपलब्धमितिहासग्रन्थानां प्राचीनहिन्द्यां रूपान्तरेण सार्धमेव डुग्गरनरेशानामितिवृत्तादिप्रणयनञ्च निर्णीतमासीत्। कार्यालयोऽयं कदा प्रवृत्त आसीदिति निश्चप्रचं न ज्ञायते परमनुमीयते यद् रणवीरसिंहशासने कार्यालयोऽयं प्रवर्तमानः परां गौरवकोटिं समाससाद। कार्यालयस्यास्याभिलेखरूपेण यत्कार्यजातं तत् सर्वं प्रायः काश्मीरविश्वविद्यालयस्थे राजकीये सङ्ग्रहालय उपलभ्यते। तदाधारेणैतदनुमातुं शक्यते यत्तदात्वेऽत्रानुवादात्मकत्वेन सुमहद् गौरवास्पदं कार्यं सम्पद्यते स्म। तदानीं राजकीये कार्यव्यवहारे लेखाविभागे चानुवादविभागे The translation department of old record and culture इति नाम्नैवायं प्रचलति स्म। अथ तदानीन्तना भारतशासनाध्यक्षा नेदृग्विधैः स्थानीयराज्यनरेशानां कार्यकलापैः सन्तुष्टाः सन्तः स्वोद्देश्यात्प्रतिनिवृत्ता न समभूवन् परं यथा तथा ते स्वोद्देश्यपूर्तये प्रयत्नञ्चक्रुर्येन केनापि मूल्येन काश्मीरेऽवशिष्टं विद्यमानं ग्रन्थरत्नराशिं सञ्जग्रहुरमीषामुद्देश्यं प्रत्नसारवद्वस्तुजातेन सार्धं ध्वंसावशिष्टानां संस्कृतमातृकाणां मूल्येन सङ्कलनमासीत्। अस्मात्पूर्वे निबन्धे मया सङ्केतितमासीद् यत् काभिर्विधाभिः कैश्चोपायविशेषैः संस्कृतमातृकासङ्कलने साधनानि साध्यन्ते स्मेति। तदानीं श्रीरणवीरसिंहस्य सुयोग्यो मुख्यामात्यः श्रीबाबूमुकर्जी नीलाम्बरमहोदयः परमोदारया वृत्त्याऽर्थसाहाय्येन चेममनुवादविभागं परिपोषयामास।

काश्मीरभूपरिवृढस्य श्रीरणवीरसिंहस्य स्वरारोहानन्तरमपि कार्यालयमिमं सुसमाहृतया दृशा निभालयामास परं प्रतापप्रभुणा काश्मीर नरेशेन राज्यसिंहासनमधिष्ठायैव कार्यालयोऽयं विलोपित इति प्राक्तने निबन्धे निवेदितमेव। अथ सर्वतः समन्ततो वैदेशिकैर्विलुण्ठ्यमानं महत्त्वपूर्णं काश्मीरिकं सारभूतं प्रत्नवस्तुजातं ग्रन्थरत्नैः सार्धं विलोक्य तदा-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नीन्तनानां काश्मीरमन्त्रिणां चक्षूषि विस्फारितान्यभूवन् । अथ नीलाम्बर-महोदयः स्वमन्त्रिमण्डलेन परामृश्य ज्ञानविज्ञानगर्भं प्रत्नविद्याप्रकाशा-भिधमेकं कार्यालयं द्व्यधिकैकोनविंशतितमे ख्रिस्ताब्दे प्रतिष्ठापयामास । यस्मात् काश्मीराद्वैतशैवदर्शने समुपलब्धानि प्रायः समस्तानि ग्रन्थ-रत्नानि मुद्रितान्यभूवन्निति प्रस्फुटम् । किञ्चाद्यावधि शैवदर्शनप्रकाशनेन सार्धं षण्णवतिखण्डात्मकानि पुस्तकानि प्रकाशितान्यभूवन् । कार्यालयो-ऽयमनेकानुदयास्तमयान् समयान् ददर्श येनास्य सातत्येन सर्वतोमुखी समु-न्नतिर्न दृश्यते । कदाचिदयं काश्मीरनरेशस्याज्ञया, कदाचिन्मुखमन्त्रिणो वेकफील्डस्य परामर्शेन कदाचिच्च कालविनमहोदयस्य काश्मीरप्रधान-सचिवस्यादेशेनानिश्चितकालपर्यन्तं समाप्तोऽभूत् । कदाचित् काश्मीर-पुरातत्त्वविभागेन सम्बद्धोऽभूत् कदाचिदस्य कार्यालयस्यायव्ययनियतो धनराशिह्रासं नीतः येनास्य कार्ये प्रगतिसंरोधः स्वतोऽजनिष्ट । अथ पिपीलिकागतिवेगेन प्रवर्तमानोऽयं कार्यालयोऽधुना चरमं निश्वसन्नन्तिमान् दिवसान् गणयति नास्य पूर्ववत् समयानुकूलमायव्ययविधानं प्रचलति । नायं कार्यालय एकदेशे शासकैरवस्थातुं निश्चितत्वेनादिष्टोऽभूत् । कदाचित्पु-राणसचिवालये कदाचित्संसद्भवनस्याधस्तात् कदाचिल्लालमण्डीप्रदेशे कदाचिच्च रेजीडेंसीमार्गस्थे शासनभवनेऽधुना काश्मीरविश्वविद्यालयीये वह्निभयशुद्धे पुस्तकालयेऽनधिकृतानामधिकारिणां हस्ते पतितः कालं गम-यति । षट्त्रिंशदुत्तरैकोनविंशतितमे ख्रिस्तहायन एवात्र पारस्यारव्यविभागो काश्मीरनरेशेन यथानियमं समुद्घाटितो येनैतयोर्विभागयोरप्यत्र कार्यं सुचारु-रूपेण प्रचलति स्म । अस्मै कार्याय द्वावधिकारिणौ पारस्यादिभाषा-भिज्ञौ नियुक्तावास्ताम् । स्वातन्त्र्यसूर्योदयात्प्राक् कार्यालयादस्मात् प्रायो ह्यशीतिखण्डात्मकानि पुस्तकानि प्रकाशितानि । स्वातन्त्र्यसूर्योदये दशक-चतुष्टयादप्यधिके समये केवलमष्टौ प्रकाशनान्युपलभ्यन्ते येषु संस्कृते शिवसूत्रविमर्शिन्या द्वितीयं संस्करणं विहाय त्रीण्यन्यानि प्रकाशनानि सन्ति । कार्यालयेन कदाचिदेका मुखपत्रिका षाण्मासिकी प्रकाशयिमु-मिष्टाऽऽसीद्यस्या एकमेव प्रसूनमद्य यावद् दृष्टिपथमवातरत् । अधुना कार्यालयस्य पञ्चविंशतिः महत्त्वपूर्णानि प्रकाशनानि समाप्त-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रायायेव संवृत्तानि येषां पुनर्मुद्रणाय न काप्यत्र व्यवस्था दृश्यते न चापि तेषां पुनर्मुद्रणाय यत्नो विधीयते। तेषु कतिपयानि प्रकाशनानि परिमार्ज्य भारतीयविक्रेतृभिः पुस्तकालयाध्यक्षैरधुना प्रकाशितानि यानि पूर्वापेक्षया विंशतिगुणेन मूल्येनाधुना लभ्यानि। द्वितीयं पञ्चस्तवीमालायाः प्रसूनं नाद्य तावन्मुद्रणपदवीमारूढमिति। कार्यालयेनानेव प्राग्वन्नियतेन धनराशिना यथानियमं मातृका न सञ्चीयन्ते न चापि तासां संग्रहाय कोऽपि धनराशिर्नियतीकृतः। नापि संशोधकसम्पादकेभ्यः। किमप्यनुदानं स्वीकृतम्। निष्क्रियतयावतिष्ठमानः कार्यालयः केवलं पुस्तकालयस्थानां मातृकाणां संरक्षणं कुरुते न तासां संरक्षणायाधुनिकवैज्ञानिकसाधनरसायनादीनामुपयोगः क्रियते। नापि मातृकाणां कृते पृथक् पृथक् स्थिरदृढपत्रनिबन्धनानि सन्ति। न चामुद्रितानां मातृकाणां मुद्रणाय प्रकाशनाय च किञ्चन विधानमत्र दृश्यते। अत्राधिकृतोऽधिकारिवर्गः शोधच्छात्राणां दिङ्निर्देशे प्रथप्रदर्शने च सर्वथानर्हो विद्यते। नापि किमप्यानुकूल्यं शोधार्थिनां छात्राणां कृतेऽत्र दृश्यते। कार्यालयोऽयं समग्रशैवदर्शनस्य ग्रन्थानां प्रकाशकत्वात् प्रसारप्रचारहेतुरवर्तत। कार्यालयस्यास्य स्वर्ग्याः पण्डिता महामहोपाध्यायसहजभट्टमहामहोपाध्यायमुकुन्दरामश्रीराजानकमहेश्वरश्रीहरभट्टशास्त्रिप्रभृतयः शैवशास्त्रप्रसारहेतवोऽभूवन्। काश्मीरे बाह्यदृष्ट्या दृश्यमानानां शैवमठिकानां यवनानां शासनकालत एव ह्रासो जातः। अत्रापि ज्ञानगञ्जवच्छैवमठिका दुरापाः। न तासां साक्षात्कारो योगिजनान्विहाय साधारणानां जनानां भवति। शैवशास्त्रशिक्षणाय काश्मीरेऽधुनाश्रमत्रयी समुपलभ्यते। येषु निशातारामोत्कण्ठं शैवशास्त्रदेशिकानां परमपूज्यानां श्रीलक्ष्मणब्रह्मचारिणां निजो वेश्मभूत एक आश्रमः। अपरौ द्वौ रामशैवत्रिकाश्रमश्रीस्वामिविद्याधराश्रमाभिधौ। ययोरेकः फतेहकदलेऽपरश्च कर्णनगरे समुल्लसतः। येषु शैवदर्शनस्य स्वाध्यायो नियमेन प्रचलति स्म। परमधुना पूर्ववत् स्वाध्यायोऽविच्छिन्नं न प्रचलति। एतयोः पूर्वनिर्दिष्टयोराश्रमयोः परम्परागता देशिकमहोदया न विद्यन्ते। अथ श्रीलक्ष्मणब्रह्मचारिमहोदयाः शरीरास्वस्थत्वेऽपि वैद्योक्तिं परिभाव्य तदीयानादेशानुल्लङ्घ्य स्वारसि-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कतया शिष्यान् पाठयन्नेव कदाचित् दृग्गोचरतां यान्ति। अथ काश्मीरे न संस्कृतवाचोऽध्यापनाय किमपि तन्त्रं वर्तते न वा कोऽपि संस्कृतां वाचमधीते न वाधिजिगोषते। त्रिचतुरो महाविद्यालयान्विहाय न क्वापि संस्कृतं वैकल्पिकरूपेणापि प्रवर्तते। नात्राधुनिकी वैज्ञानिकपाठ्यप्रणाली केनापि संस्कृतेऽनुवदितुं प्रयत्नोऽकारि। आधुनिकविज्ञानतन्त्रजातस्य गीर्वाणगिरि विस्तृतानुवादो नितान्तमपेक्षणीयो वर्तते अन्यथा सर्वाङ्गसमृद्धस्यास्य संस्कृतस्य नैयून्यमापतेद् येनास्य खलीकारः स्वाभाविक एव। काश्मीरे न संस्कृतपिपठिषूणां कृते कोऽपि भव्य उदर्को दृग्गोचरीभवति येनात्रत्यो जनः प्रायेणौदासीन्यमाश्रयते। इत्थं स सर्वथा सर्वतश्च स्वरूपात् प्रच्युतः। किञ्चासौ भट्टभीमकभट्टशाम्भुराजानकरत्नाकरानन्दवर्धनशिवस्वामिभट्टाह्लादराजानकमङ्खक्षेमेन्द्रराजानकजयरथ - भट्टाभिनन्दभट्टजगद्धरभावसर्वज्ञभट्टजयन्तसदानन्द-(काश्मीरिक)-राजानकानन्द वर्धनभट्टवल्लभदेवकौलसाहिबमम्मटभट्टलोल्लटभट्टरुद्रटभट्टमहिमभट्ट - कुन्तलभट्टतिलकभट्टरुय्यकभट्टशोभाकरभट्टानन्ददार्शनिकसोमानन्दोत्पला - भिनवगुप्तक्षेमराजभट्टभास्करयोगराजराजानकभास्करशिवोपाध्यायचिद्रूप चन्द्रभट्टकैयटहेलाराज जगद्धरोग्रभूतिशितिकण्ठप्रभृतीनां प्राचामर्वाचाञ्च साहिबरामईश्वरकौलगाडरूरामन्द्रकौलवासुदेवराजानकलसकाकक्रपालुकोकिलप्रभृतीनामभिधानादिपुरःसरं स्वरूपं न वेत्ति विवित्सति वेति सर्वथा स्वस्वरूपात् प्रच्युतः काश्मीरिकाधुनिकयवनजातिवत्। नाप्यसौ भारतवर्षस्यादिपुरावृत्तलेखकैः कल्हणजोनराजश्रीवरप्राज्यभट्टशुकसाहिब्रामेश्वरकौलप्रभृतिभिः सह पारिपूर्ण्येन परिचितो वर्तते।

चित्रमेतत् स्वनामधन्यानां शिवस्वरूपाणामाविष्कृतशिवाद्वैतरहस्यानां साहित्यालङ्काररजन्मदानां स्वकवितामधुरसाप्यायितोन्मादितरसिकचेतसां स्वप्रतिभाचमत्कृताखिलसहृदयानां तन्त्रमन्त्रयन्त्रकुशलानामितिहासचणानां नैकविधाद्भुततीर्थैतिह्यविदां चतुषष्टिकलाभिज्ञानामष्टादशविद्यादेशिकवराणां नैयायिकानां नीतिनिपुणानाञ्चाभिधानानि वेत्ति विवित्सति वा का कथा चरकदृढबलवाग्भट्टनरहरिराजानकलसकप्रभृती-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नामायुर्वेदधुरन्धराणामाचार्याणां विषये कोकपण्डितं भट्टकेदारञ्च न वा जिज्ञासते। विस्मयावहमेतद् यच्छारदादेशे शारदाया उपासको न कोऽपि दृश्यते । स्वातन्त्र्यसूर्योदयात्प्राक् काश्मीरेषु सर्वेषु विद्यालयेषु संस्कृतं वैकल्पिकरूपेणाध्याप्यते स्म परमधुना तत्पठनाय कोऽपि न प्रवृत्तो भवति कारणेन तेनैव संस्कृतं न विद्यालयेषूपलभ्यते। काश्मीरिकपत्रतत्त्वविद्या-प्रकाशविभागोऽपि निष्क्रियतामापाद्यमानोऽचिरात् स्वीयं कार्यमौज्झीत्। अथौदार्यवृत्तिना देहलोस्थराष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानेन बहुजनहिताय लोकोप-काराय जम्मूविद्यापीठान्तर्गामी परतन्त्र एको विभागो वर्षद्वयात्पूर्वं काश्मीरेषु समुद्घाटितः परं समुचितसम्भाराभावान्नैष युक्तियुक्तं कार्यं कर्तुं प्रभवति, नात्र कोऽपि स्वतन्त्र आयव्ययाधारो नियतीकृतो येनायं कार्यं कर्तुं शक्नुयात्। नात्र मातृकासंग्रहाय समुद्धरण (Reference)-पुस्तकालयाय कोऽपि धनराशिर्नियती कृतोऽस्ति न चापि यथेप्सितपण्डितानां कार्यकर्तॄणां समुचितः समावेशोऽत्र विलोक्यते । सर्वथाडम्बरवादेन सदा कार्यं न सिद्ध्यति। सर्वारम्भेषु क्रियात्मकः सहयोगो नितान्तमपेक्षणीयो वर्तते। किं च लुप्तसंस्कृतप्रचारप्रसारे काश्मीरेऽधुना विद्यापीठस्यैकस्य नितान्तमपेक्ष-णीयता वर्तते येनात्र सर्वथा संस्कृतप्रसवभूमित्वात् पुरुषपुर(पेशावर)-वत् संस्कृतं नित्यत्वेन न विलुप्यते। इत्थमाधुनिकसंस्कृतस्थितिप्रदर्शनेन मम केवलमेकमात्रमुद्देश्यमेतदेवास्ति यद् भारतीयाः काश्मीरिकाश्च न्यायमार्ग-माश्रित्यास्योद्धाराय प्रणिधानं दद्युरिति । अन्यथोपेक्षिता संस्कृतभाषा विपरीतां परिणतिं दध्याद्। येनात्रत्या संस्कृतिः समुच्छिन्नमूला सती स्वां स्वतन्त्रां स्थितिं विध्वंसयिष्यति । प्रायो भारतीया संस्कृतिः संस्कृता-श्रितैव । इति हार्दिकीं वेदनामनुभवता मया किञ्चिन्मात्रं प्रजल्प्य विरम्यते।

काश्मीरिकप्रत्नविद्याप्रकाशकार्यालयस्य ४५ वत्सरीयं प्रकाशनविवरणम्

प्रभावतीप्रद्युम्नाख्यं नाटकं रामकृष्णसूरिविरचितं कार्यालयेना-नेनाविकलं मुद्रितं सदपि वत्सर दशकेभ्यश्चतुर्भ्योऽपि नास्य नाटकस्य भूमिकालेखनकार्यं पारितमभूत्। किं च चित्तप्रदीपस्य वासुदेवरचितस्य

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वेदान्तग्रन्थस्य तत्कृतव्याख्याविभूषितस्य सुसम्पादितस्यापि मुद्रणमद्य तावन्नाभूत् । द्वितीयं पञ्चपल्लवीमालायाः प्रसूनं राजकीये मुद्रायन्त्रालये सम्पूर्णतया मुद्रितमपि नैकेनाप्यध्यक्षेण समानेतुमादिष्टम् । फलतः तत् तत्रानपेक्षितपत्रकीलादिना मिलित्वा विनष्टमभूत् । किं च छुम्भासम्प्रादायाख्यो लघुकलेवरात्मको ग्रन्थोऽप्येवमेव भूमिकादिलेखनाभावाद् राजकीयमुद्रणयन्त्रालय एव विनष्टमभूदित्येवम्प्रायासु परिस्थितिषु का सम्भावना काश्मीरसंस्कृतेरुद्धारस्य ।

अथ संस्कृतस्यात्र दुःस्थितिं निरीक्ष्य लुप्तप्रायसंस्कृतिसंस्कृतसमुद्धाराय ख्रीस्त-एकोन विंशत्युत्तरषडशीतितमेऽब्दे जनवर्यां नवदेहलीस्थ-राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानाधिकारिभिर्जम्मूदेशीयश्रीरणवीरकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठायत्तमेकमुपकेन्द्रं काश्मीरेषु राजबागे समुद्घाटितम् यस्य समारभ्यमाणो लघुकार्यालयो बीजरूपावस्थितोऽङ्कुररूपतामप्यनापद्यमानोऽद्य तावद् वर्तते यः कदाचिद् वृक्षरूपेण परिणम्य स्वच्छायादानेनासंख्यात्र् जिज्ञासूनार्त्तान् शोधार्थिन आह्लादयितुं क्षमः स्यात् ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

LITERARY FORM AND ALAMKARAS : A NOTE

Dr. M. V. Ramana

The origin of some literary forms can be traced to the Alaṁkāras, for some of Alaṁkāras during the course of development became full-length kāvyas, e.g., the Alaṁkāra—'yamaka' gave vent to the kāvyas which fully abound in 'yamaka'—i.e. 'YAMAKA KĀVYA'. 'Vṛndāvana' and 'Meghābhyudaya' are a few such instances in point. In a like manner, 'citra' is both an Alaṁkāra and also a kind of poetry. (Citrakāvya). Similarly, the fighre 'śleṣa' has made a remarkable contribution in this field, becouse it forms the very basis for the rich variety of 'Sandhāna—Kāvyas.' In this type the same set of words in a Kāvya give more than one meaning, thus narrating simultaneously, two stories or sometimes, three, called 'DVISANDHĀNA' (Example : The 'Rāghavapāṇḍavīya of Kṛṣṇa paṇḍita) and 'TRISANDHĀNA' (Example : The Yādavarāghavapāṇḍavīya' of Anantācārya) respectively. Dr. Raghavan in his article, 'Anekasandhāna Kāvyas',[1] records the different varieties of Sandhāna Kāvyas, viz., '*Catussandhana*', (Example : The Nalayādavarāghavapāṇḍavīya), '*Pañcasandhānī*' (Example : The 'pañcakalyāṇa campū of cidambara), *Saptasandhāna* (Example : The 'Saptasandhāna Mahākāvya of Hemacandra), *Caturviṁśatisandhāna* and so on extending upto '*Śatārtha Kāvyas*' and '*Aṣṭalakṣārtha Kāvyas*'. Similarly, '*Vakrokti Kāvyas*' and '*Vyājokti Kavyas*' can be traced to their respective Alaṁkāras.

In addition to the different types of Sandhāna-Kāvyas given above, a variety of Anekasandhāna Kāvya, viz., VILOMAKĀVYA

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

is also mentioned. Even a dramatic compostion belonging to 'DVISANDHĀNA' type (Example : Yādavarāghavīya of Narahari) is noticed.[2] The figure Aprastutapraśaṁsā gradually became the Anyāpadeśakāvya. The Anyāpadeśāśatakas and the Anyāpadeśa Kāvya of Jagannātha are the instances to prove this fact.

Apart from these, there are works that fully abound in puzzles (prahelikās); e.g., The Kriyāgopanarāmāyaṇa of Kṛṣṇa Kavi. In all the verses, the verb is concealed in such a way that it is not clearly known to exist. Regarding these riddles and similar other eompositions like enigmas, puzzles, charades and tricks. the following remarks of Ludwik Sternbach are justified—

> "Some branches of Sanskrit Literature did not find yet their befitting placc in the Histories of Sanskrit Literature, or were not yet described there fully, as their importance requires. To these branches Sanskrit Literature belong in the first place Subhāṣita-Saṁgrahas, real treasuries of Indian poetry, containing thousands of veritable gems of metrical compositions. In the second place belong to these forgotten branches of Sanskrit literature riddles and puzzles, a distinct kind of literary expression which prove the ingenuity of Indian people and the wealth of Sanskrit folk literature."[3]

Among the literary theorists, it is Daṇḍin, who categorised these riddles into sixteen kinds.[4] In the 'Vidagdhamukhamaṇḍna' of Dharmadāsa, as many as seventy categories of riddles are found enumerated.[5] The Avadhānas, the Samasyāpūraṇas and the like which come under this category of literary compositions, are very much in practice even now.

The fact that the origin of some of the literary froms could be traced to the Alaṁkāras, finds support in the words of Prof. Krishnamoorthy, "In Sanskrit we have certain forms of poetry

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

like eulogy (praśasti) and stotra alongside of Anyokti, Vyājastuti and Vakrokti, not to speak of riddles. These are not just titles of figures but literary tendencies which produced new genres."[6]

Notes :

1. 'Annals of oriental Research' Madras University, Vol. III. pt. 1. (1938-39). pp. 1-8. Also Vide E.V.V. Raghavacarya's article : 'Dvyarthi and Tryarthi kāvya.'—Pathak commemoration volume. pp. 367-81, B.O.R.I., Poona.
2. Dr. Raghavan : 'Anekasandhāna kāvyas.'
3. 'Indian Riddles,' Vishveshvaranand Indological Series-67, Vishveshvaranand Vedic Research Institute, Hoshiarpur. In this monograph, the author gives a historical outline of riddles and puzzles in Sanskrit Literature. Various types of Riddles and puzzles are categorised under the heads : Prahelika and Apahnuti—Riddles, Kūṭa riddles, Gupta and Cyuta riddles, Antarālāpa and Bahirālāpa riddles, citra and Bhāṣā citra riddles etc.
4. Kāvyādarśa, III. 96-124.
5. Vide ch. I. 9-18.
6. 'Studies in Indian Aesthetics and Criticism'—(Mysore, 1979) p. 160.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

VARṆA AND ĀŚRAMA SYSTEM IN THE VEDAS

Dr. C. L. Prabhakar

'Sarasvatyai Pavakayai Svāhā'

Varṇa and Āśrama institution is a topic of interest which has engaged many like sociologists and religionists and others. If we like to trace the genesis of this organisation, we turn to the Vedas. We have a vast literature following the Vedas and therefore the subject by itself assumes larger dimensions and complexities. Infact 'Varṇa and 'Āśrama' has been a social organisation formulated for convenience of administration and division of work in the society. The literature in Sanskrit as such does not envisage to reason for differences among the people. In Vedic period, we notice a happy dealing and all Varṇas are given equal opportunity in the run of life of human society. What differences among castes cropped up in subsequent times are not testified by many literary works in Sanskrit, in the Rāmāyaṇa, Vālamīki mentions that Vasiṣṭha, the royal priest of King Daśaratha, ordered that people of all the four castes be invited for the sacrifice by Daśaratha and due presents and respect be offered to them. When they said,

"Yathoktaṁ tat Kariṣyāmo na Kiṁcit Parihāsyate/"

Then Vasiṣṭha said,

"Brāhmaṇān Kṣatriyān Vaiśyān Śūdrāṁścaiva sahasraśaḥ
Samānayasva satkṛtya sarvadeśasumānavān".

Vedic Society was a patriarchal system. The king was often due to heredity. Also the king was elected by districts or people (Viśi rājā Pratiṣṭhitaḥ) belonging to many tribes. The King was a Kṣatriya by caste, committed to the duty of protection of the people

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

and their interests. In return, the people too bestowed great trust upon the king and rendered him obedience and supplied voluntary giftsnot fixed taxes—for his maintenance. On the other hand, the priest, a Brahman was appointed by the King for conducting sacrifices and also render counsel to him. So Brahmanas gained importance slowly and they took lead to organise the duties and function of remaining castes of people viz., Vaiśyas and śūdras. They were exposed to knowledge, intelligence and wisdom which was supposed to help men of other Varṇas. A reading of RV Saṁhitā gives rise for a thought that Aryans and Dasyus filled the society. Mostly they were characterised by their bodily complexion viz., white and dark and thus Varṇa was used to distinguish the tribes. Prof. Macdonell thinks that the contrast of Aryans and Dasyus in complexion originally framed the basis for 'Caste' organisation. Secondly, the Ṛvedic Society and another division or set of people of the victorious tribe and the tribes captured and taken as slaves and thus it was a social adjustment viz., one tribe to rule and the others to serve. There are many views regarding the organisation of the Vedic society. But my purpose is to indicate that the Vedic society was principally marked by Brāhma and Kṣātra viz., priesthood and royalhood, which was supported by the other sections of the people of the society. Moreover, the distribution of society in the order of four Varṇas had a social meaning and benefit for the well-being of the society and humanity. When we imagine Puruṣanārāyaṇa, from his face Brāhmaṇas were created, from shoulders the rājanyas, from thighs the Vaiśyas and from feet the Sūdras. "Brāhmaṇo'-Syamukhamāsīt bāhū rājanyaḥ Kṛtaḥ, Ūrū tadasya yadvaiśaḥ Padbhyāṁ Śūdro ajāyata." (X-901-16). That hymn of Nārāyaṇa is symbolic. They indicate the respective functions to which these four caste people are marked out :

"Lokānāṁ tu Vivṛdhyarthaṁ mukhabāhūrupādataḥ
Brāhmaṇaṁ kṣatriyaṁ Vaiśyaṁ śūdraṁ ca niravartayat".

—Manusmṛti 1-31.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

He adds that such a division was for prosperity and well-being of the society. The Varṇa division is for interdependence and for the total prosperity of a single unit ie., the society embodied as a single human body.

The term 'Varṇa' is derived from the √Varṇ (to describe, to paint and to colour. √Varṇ with the suffix 'ac' means colour, paint, complexion, beauty and a class of men species and outward appearance and property viz., quality. Varṇa came to be construed simply as 'Caste'. We have 'varṇa saṁyoga, (unison of caste) and 'Varṇasaṁkara' (distortion in the organisation of caste). The former is a gain to the law and order of the society while the latter a cause for problems and complexity. As it is through a study of the Vedas, one can see that the Caste was not an artificial product due to the greed and cunningness of Brahmins. Bhagavadgītā (18.41-44) describes the function of the four castes.

Even in the later literature a good deal of attention for it is seen. In RV however not much is discernible regarding caste. RV points out that four classes existed in the society for promoting sacrifice, a noble activity. The same is true with regard to sāmaveda. RV and SV are identical in text execpt a few (75) hymns). In Yajurveda, in addition to the four castes, many more sub-divisions of the castes and occupations (āśrama) have been mentioned. In Yajurveda, Brahmans showed their lead and commended the good-will and co-operation of other caste-people themselves as, 'adhvaryu's etc. Sacrifice was reckoned as the social and religious activity which brought forth universal prosperity, for all classes of people. 'Yoga' and 'Kṣema' of the people of the respective castes did take place owing to a overall sacrificial activity (yoga-kshemaṁ naḥ Kalpetam). In the Atharvaveda, however, the mode of priority among classes changed greatly. The śūdras developed and importance for Brahma and Kṣatra reduced, Even the stature of Vedic deities like Agni and Indra diminished and concentration on the material welfare increased. It is so because of

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

intervention of many rites which were of the nature of conjuration and magical charms that aimed for devilish and selfish ends. Let us turn to the Varṇa and Āśrama as figured in the Yajurveda which is a Veda of thc people committed to sacrificial religion. We find ample scope for elaboration on this issue as this veda is a practical veda commending the concern with the four and more castes/classes of the contemporary society.

The Varṇa and Āśrama systems were prevalent in the Vedic times. This is realised from the mantras of the Vedas. The Vedic mantras are pure and unbiased and not committed to the bordering of the distinctions between the castes as such. Unbiased and uncontroversial as they are, the Vedic Ṛṣis have directed their thinking in understanding the vast nature and mythology involved about it. They elucidated and established the need and importance of sacrifice to the benefit of mankind. They inculcated it to be a measure for betterment, The Vedas do not talk, not involving sacrifice, The Varṇa and Āṣrama systems are not extraneous to sacrifice.

'Varṇa' and Āśrama are the two systems by which people are distinguished. It is a social organisation. It is a social convenience for the promotion of life and prosperity in this world. Varṇa is caste/class. Āśrama is the resting place, a hermitage and an occupation. It is a stage of life depending upon choice, We are aware of two stages in the man's life—Life before marriage and life after marriage. 'Brahmacarya' and 'Gṛhastha' are the two terms which designate the kind of life accordingly. 'Brahmacarya' refers to restriant of sexual (sensual) pleasure and to attention upon thoughts on the Supreme Being and practice of the same. 'Gṛhastha' is a householder who remains a source of help for the needy, establishing the house and the family. Other than this is 'Vānaprastha' (retired to forest) or saṁnyāsa (Renunciation). These connotations have become popular in later times compared to Vedic times.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

'Varṇa' and 'Ārama' are bound by certain 'dharma's. When dharmas are followed and propagated, it would form a kind of system, an arrangement in the plan and direction of life. No one can escape 'Varṇa' because it is acquired by birth. 'Āśrama', however, would be by choice. The history of 'Varṇa' and 'Āśrama' in India is a matter of great interest. No definite conclusions be established over this because of a variety of tastes and experiences among people. At different stages, Veda points out divine origin for this system. Bhagavadgita says—

"Cāturvarṇyaṁ mayā sṛṣtaṁ guṇa-karma-vibhāgaśaḥ.
Tasya Kartāramapi māṁ viddhi Kartāramavyayam."

The 'Varṇa' attributes are also made for Vedic deities, eg., Indra is Kṣatra and Agni and Bṛhaspati belonged to Brahma. The same is extended to the human society. The mantras of the Vedas which are revealed to great seers had presupposed knowledge and division of four castes. The mantras contained knowledge and 'Vidhis' (rules) conforming to the functions of the respective 'varṇa's. No prejudicing each other, however, is openly seen in the vedic mantras. Mantras contain just statements of facts on the 'Varṇa' system and that formed a guideline for the behaviour of respective castes among people. The Vedas point out the fifth caste which is deemed as the result of Inter-caste dalliances. 'Cāṇḍāla is defined to be so and to belong to the fifth caste. 'Varṇa' meant also profession as noted earlier. Therefore, indifferent to caste (jāti) (race) in which people are born, various trades and jobs were pursued as a matter of livelihood and economic betterment. It is thus a part of distribution of labour and skill. In YV, we notice many more trades and professions to have cropped up and pursued by people. The social organisation was comparatively good. YV is a sacerdotal text. Sacrifice in a social and religious function. Sacrifice provided an opportunity for people for get

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

together. It demanded co-operation and co-ordination with people. When 'Ksātra' conducted a sacrifice, 'Brahma' officiated and furthered the proceedings of the Yajña to success. The other castes extended their co-operation to them. viz., 'Aśvamedha which commends co-operation of all people. This was how the system of sacrifice existed in the Vedas, involving people of all Varṇas.

Vedic Saṁhitās talk more of 'Varṇa' and less of Āśrama in their texts. In Āraṇyakas and Upaniṣads, however, the Āśrama type gained importance and the thought about 'Varṇa' was less attended to. Moreover, Kṣatriyas and other Varṇas peeped into the domain of knowledge, claiming thereby that knowledge was no monopoly of priesthood. Therefore, a Brahmin came to be defined as one "who knew Brahman" (Brahmavid Brāhmaṇaḥ). Sacrifices, as said above, are basically designed to bring together all people in order to appease and praise gods, the mahat bearers and posseessors of Cosmic power (asurasya māyā). Gods in return, as believed, rewarded the sacrificer, priests and their people. When we study the vedic mantras, we notice that they are work-oriented enabling the purpose of human existenee.

In creation differences are bound to occur since 'jāti' (svabhāva) often varies. 'Varṇa', therefore, was also a topic for such situation. The Vedas never preached any prejudice, or Jealousy. As śāstra, Veda marked out the Varṇa system keeping sacrifice and general prosperity of people in mind. However, YV points our the disturbance in the order of caste-system. In Puruṣamedha section of YV (30ch YV VMS), we notice the mention of some such people as useful at sacrifice. They are, termed as 'māgadhas', 'sūta' 'Vrātyas' etc. Mahīdhara, the commentator of SYV explains 'māgadha' to be one born in a kṣatriya lady through a Vaiśya man; also sūta, to be one born to a Brahmin lady through a Kṣatriya man etc. These are also procured for the promotion of sacrifice as a matter of its procedure. Sacrifice

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

is for the people and by the people to derive substantial benefits for their welfare. It becomes evident that the Veda by itself never pointed out complexity in the number of castes or in the choice and the system of Āśramas.

Āśramas actually grew later. This concept gained importance in the post Vedic period. If vedic formulas were to be examined in the light of differences and problems which arose in later times, we realise that there was no need for all that. Aims of life viz., "dharma", "artha," "kāma" and "mokṣa" were not denied to any human being. On the other hand the system of deputation for work on behalf of others was in vogue, viz., "Brahma" (Priesthood) represented guidance and "Kṣatra" (Royalty) the medium of action and execution. This was even on behalf of the other Varṇas which are not attached to these two. Even in "ācāra" for example, while "Pravara" is recited by brahmins in sandhyopāsanā rite. The sentence "go-brāhmaṇebhyaḥ śubhaṁ bhavatu" implies the sense of happy wish for cattle and all varṇas beginning from Brahmin caste in all the places surrounded by four oceans. Thus the religious prescription of the YV tradition never excepted cattle or creed but always blessings are invoked to them.

Position of Varṇa and Āśrama System in the YV

The YV has mantras to be employed in various sacrifices and other optional rites. The YV has many formulas common with other vedas. Sacrifice is described to be a cooperative activity and also "a śreṣṭhatama Karma" which will fetch for the participants heaven and fulfilment of wants and desires. The YV, therefore, thus aims to promote the well-being of the people. The analogy was that originally gods designed and performed sacrifices. As a result they got upliftment of their positions and ranks. After all gods are but men elevated owing to the merit of sacrifice (manuṣyā vai devaḥ and tapasā lokamavāpnuvan). Gods created sacrifice by means of another sacrifice (Yajñena Yajñamajanayanta devāḥ). Having created they spread the sacrifice (davāh Yajñamatanvata). In like

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

manner the people on earth must also be prosperous and famous. The desire is: "Agni is formost among gods (aghih Prathamo devānām). In like manner the sacrificer should also be foremost among his people. Ṛṣis and gods went to better regions of happiness through sacrifice. In the same manner people should also grow happier reaching better lokas, and better levels of happiness. Infact, Yajurveda makes "ananda mīmāṁsa," a unique feature of that Veda. The formulas of the YV contain such prayers where precedence for eminence was for God at first and that should suceed to their devotees correspondingly upon earth.

Now about sacrifice and Varṇa systems. Sacrifice has reference to Varṇa or caste. In fact sacrifices are divided among castes. There are sacrifices which are exclusively for certain castes are some others are for two and more castes. Even vedic deities are grouped by the caste attributes, eg., Agni is "Brāhmaṇa", Bṛhaspati is also Brāhmaṇa, while Indra is Kṣatriya and Tvaṣṭṛ, śūdra. Among many sacrifices described in the YV, "Vājapeya" is a sacrifice which is common to Brāhmaṇa and Kṣatriya. He who performed it, if he is Kṣatriya, becomes mahākṣatriya and if Brāhmaṇa, he becomes mahābrāhmaṇa. Uniike it, is the Rājasūya Yāga. It is exclusively for "Kṣatra" (Kings) to acquire sovereign authority over other kings (Mahārāja). In the Mahābhārata, it is mentioned, Dharmarāja performed it. Besides these, there are several Kāmyesṭis in the Veda which are performed for personal gains. Their number is more in YV and AV. Sacrifices as a whole fetch personal eminence to people of all castes. Moreover, there are prayers addressed to deities like Agni, Indra, Brāhmanaspati etc., invoking them and requesting them to bestow excellence upon the respective castes, eg., the mantra" Rucaṁ no dhehi brāhmaṇeṣu, rucaṁ rājasu naskṛdhi, rucaṁ viśeṣu śūdreṣu, mayi dhehi rucā rucam" (18.48) Here "Rucam" brilliance is desired to be bestowed upon people of Brāhmaṇas, kṣatriyas and śūdras.

In later times too it is seen, the Godess Lalita is described to be more worshipped by Brahmins while Godess Durga more by śūdras

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(Lakṣmaṇārcitā, śūdrārcitā etc., of Durgā-Sahasranāmastotra-supports the same).

Sacrifice warrants the interference and co-operation of the people of all castes. So the rich (rātayaḥ) Yajamāna commends the co-operation of all castes. The society is so modelled that the Brāhmaṇa was shown to be all important. Brāhmaṇa was a purohita and Ṛtvik who conducted the yajña and hence was indispensable. It appears, the society was so grown that when the sacrifice was planned, every body lent a helping hand for its success. The disparity among castes was not shown. The object of the sacrifice was to procure "yoga" and "kṣema" for all classes of people. In the formula : "ā brahman brāhmaṇo brahma-varcasī jāyatāmā rāṣṭre rājanyaḥ śūra iṣavyotivyādhī mahāratho jāyatāṁ......Purandhir yoṣā, jiṣnurātheṣṭhāḥ sabheyo yuvāsya Yajamānasya vīro jāyatāṁ... (22.22) found in the Aśvamedha section of the YV is characteristic of expectation among people regarding the way they were to develop further. The "brahmavarcasī, here, means he who possesses interest in the study of science of sacrifice (yajñadhyāna-śīlaḥ Brāhmaṇaḥ : Mahīdhara); the same is true to "Kṣatriya" also, since he should support an activity of that kind besides himself being a "śūra". The formula points out the characteristics of a future king to be born in the sacrificer also. 'Brāhmaṇa' was ot specialise in speech and learning (mukha). Kṣatriya should practise protection (bāhu) Vaiśya was for the distribution and exchange of produce (Ūru) while the śūdra was to produce needful articles for comfort (pāda). Thus the functions of the castes were divided to add to the welfare of Mankind.

The YV spoke of unity and coordination among castes. It considered that state to be a happy situation to know about :

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

Yatra brahma Ca kṣatraṁ ca
Saṃyañcau Carataḥ saha.
tāllokaṁ puṇyaṁ prajñeṣaṁ
Yatra devāḥ sahāgninā. (20-25)

Here the simile is striking. When Agni and devas are united in the action, that is a state of happiness. Also yatrendraśca Vāyuśca samyañcau carataḥ saha, tāllokaṁ puṇyaṁ prajñeṣaṁ, Yatra sedir na vidyate (20.26) : The Unison of Indra with Vayu is applauded here. References of this sort in YV suggest that castes had mutual support. Brāhmaṇa was looking after the welfare of all by invoking blessings of deities over them as illustrated previously. Taittirīya Upaniṣad says "Veda-Vidi brāhmaṇi sarvādevatāḥ vasanti—etā eva devatāṃ prīṇayanti, brāhmaṇam dṛṣṭvā namaskuryān nāślīlaṁ bhāṣayet" etc. Such references in the Veda need not give rise for controversy and they are statements of facts only.

Let us consider morale shown among the castes (Varṇas) in this veda. RV is hardly concerned with such strange developments. The mantras of the YV :

Yaddhariṇo Yavamatti
na puṭṭam paśu manyate
śūdrā Yadaryajārā
na poṣāya dhanāyati.

also...........

śūdro Yadāryāyai jāro
na poṣamanu manyate.
23.30, 31

Here we notice the regret and unhappiness shown by the husband of a woman who enjoys sexual connection with a man of other caste. The simile here is that the feeling of the lord of a field whose field was eaten up by a female deer. He is not happy

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

that the deer became fat after eating his field but grows sad that his field is destroyed. Here it is indicate that there were cases of extra marital relations and inter caste dalliances. They were, howexer, never viewed with satisfaction.

Now turning to discuss a few sacrifices further where Varṇas have a role we have for example Puruṣa-medha. The mantras of this contains reference to Varṇas and āśramas, construed as "professions or occupations. To sacrificlal posts, eleven kinds of people are tied and they are dedicated to deities.

The mantras, eg.,

Brahmoṇe brāhmaṇam
Kṣatrāya rājanyaṁ
Marudbhyo vaiśyaṁ
Tapase śūdraṁ.........etc.

30.5

indicate the varṇa. A brahmin for priesthood, A Kṣatriya for royalty, a Vaiśya for Maruts a Śūdra for tapas and so on are dedicated. Here vaiśyas and śūdras are characterised for work of distribution (maruts) and tilling the soil or some such hard work which is a part of social activity for promotion of life on the earth. In sequence to that, the formulas enumerate various trades and professions pursued by the people of the contemporary society who are taken as sacrificial victims and who are assigned divinity in the situation of that sacrifice. Puruṣamedha begets eminence to the sacrificer and the participants. The victims thus tied to stakes would be released after the due rite and recitation of Puruṣasūkta.

At a sacrificial situation the caste-differences, if any, get diminished in the Aśvamedha sacrifice, the of rite riddles may be

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

noted. Here at this rite, the priests and the ladies of the Yajamāna indulge freeiy in the obscene talk. This rite suggests that under the canopy of sacrifice all are equal. It is said that ācāra (tradition) leades to 'cintana' (thinking) and this is shown in the YV, eg.; the Īśāvāsya upaniṣad of the SYV and the Taittirīya upaniṣad the KYV describe the philosophy behind ācāra. The Pravargya ceremony of the YV is a characteristic of such a change. Sacrifices are aids for picking up the sense of detachment and self enlightenment. Mahīdhara, the commentator of the YV indicates, "ayamapi pakṣosti tat puruṣa medhānantaraṁ sanyāsa eva," at the end of his commentary for this portion of the YV.

Ṛṣis have laid down the characteristics of varṇas and also varṇāśrama dharmas. What they laid down in the YV was valued and obeyed by the people. The authority of the Veda was never questioned, atleast upto Āraṇyakas. There was fair obedience of the dharmas in respective castes. However, the caste-complex grew more and more rebelling due to certain unique statements by Ṛṣis. Statements implying superiority of any caste caused dissatisfaction; eg., eṣa vo amī rājā; somo asmākaṁ Brāhmaṇānāṃ rājā. Brāhmaṇas claimed immortal soma to be their Lord, while the sacrifier, a moral was pronounced to be the king for other people. At other places also Brāhmaṇas (priest) claimed superiority over other Varṇas. The king is, however, described to be established among the people (Viśi rājā pratiṣthitaḥ). Like the RV, the YV also spoke of the king and the state ridden soeiety. The king was supreme and responsible for protection and maintenance of the peodle. Ṛṣis formulated ethics and rules of conduct of Varṇas and āśramas; eg., in SB it is laid dowu that, the priest who officiates at sacrifices should be contented with the dakṣinā offered by the Yajamāna and on the other hand the Yajamāṇa too should be liberal enough in the distribution of Dakṣinā to Ṛtviks at sacri-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

fices. Further, both have been cautioned that if the priest were to prescribe fees at the sacrifice, then 'Dakṣiṇā' shall turn into a lion and kill both the priest and the Yajamāna.

The YV respects Āśramas in the sense of professions and occupations. This we note from the mantras of 'Puruṣamedha'. The formulas refer to householder's previleges. At times, Agni is invited to sacrifice together with his wife (agne patnīvān ihāgahi). Professions are promoted and encrorchments are criticised. Later on castes other than Brahman, were denicd the authority for the study of the Veda. Likewise, even women were denied that previlege. However, it is hard to see whether the Veda attested this openly. However, the possible reason may be that distribution of responsibility in the soeiety, and that others should remain the least concerned when relevant people are doing it for their good also. 'Gāyatrī' mantra is denied for women and Śūdras. When the eligible people are practising on their behalf also, the others may enjoy the share of benefits therefrom and be engaged in their occupations. It is not advisable to covet that what was not meant for them.

The YV speaks of 'agham' (sin). All varṇas and āśramas are scared of it. The sacrifices are for the extinction of sin and acquisition of state of purity. The YV also points out the real sense of the concepts; eg., ā brahman brahma varcasī jāyatam : Brahmavid brāhmaṇaḥ; śūra iṣavyah......(Kṣatriyaḥ) 'doghdhrī dheuuḥ', 'purandhir yoṣā''......etc., When these characteristic features for the Varṇas and the people are not maintained, dissent and contempt might grow among the varṇas.

The Rudrādhyāya of the YV is an interesting contribution

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

Here Lord Rudra is eulogized to be all pervasive and all-eminent, possessing his manifestation in all sorts of things and āśramas of the human society; eg., Rudra is present among the councils of respective castes (Vrātas) and he is lord of them too (Vrātapati). In the YV, a separate category of the society cropped up called 'Vrātyas' who lost the eligibility for receiving initiation into 'Gāyatrī' (Sāvitrī-patito Vrātyaḥ). The people of these groups are mentioned even in the AV. The First three castes valued Gāyatrī which is the Sāvitrī mantra. The YV points out that religion was not accorded due obedience by all people of the society. This is a paralled struggle that of Devas ann Rākṣasas to establish sacrifice and Dharma in the world.

Thus from a glance at the Vedic literature. We come to know that it was the society where the Varṇa and āśramas system was followed.

IV

From the above study the following points would be of interest :

1. There existed a system of the Varṇa and Āśrama in the YV. That system was carried over from the RV to the YV. Each. Each Varṇa was a votory of one āśrama or the other. Āśrama or profession lead to the sustinence and subsistance of the respective people. However, at the advent of the sacrificial situation, all 'varṇas' lost Identity and cooperated towards its success. Individual skills: likes and dislikes acquired importance and [recognition. Mostly the YV talked of 'Gṛhasthas' who held the obligation of performing sacrifice for the welfare of humanity. Kśatra' and 'Brahma' figure much. The āśhramas like 'Brahma-carya' or 'Saṃyāsa' was not known in Saṃhitā times. But in Āranyaka and upaniṣad these two acquired importance.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

2. Yajña was the unifying force for Varṇas. They had faith in the sacrifier and priesthood. Each one believed, "Yajña" was a device for procuring prosperity, good and happiness. There was nothing possible without sacrifice. Brahmans took hold of knowledge of sacrifice. Kśatra supported that.

3. Kśatra and Brahma took the main role in safeguarding ihe interest of the people. Brahma acted on behalf of the deities and kṣatra on behalf of the people at large. When these two acted mutual support, society remained in order.

4. Aśvamedha, Puruṣamedha etc., are the sacrifices where varṇas and āśrama found their better utility in the sacrifice complex.

5. In the Vedic mantras, we have no direct references, that varṇas ever exercised jealousy and decried their individualistic previleges. Thus the vedic society was a happy frame work that struggled for merit and eminence. Even if individual differences existed, they were uncared for any noble cause.

6. There were councils of Brahmans to formulate sacrificial details and reasonings for actions/rites therein. Like that other castes too had councils but resolutions and more details of these are not known from the Vedas.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

A CALENDAR OF EVENTS IN THE MAHĀBHĀRATA

Dr. Madhusudan Mishra

The critical edition of the Mahābhārata of the Bhandarkar Institute, Poona, follows the main principle that the reading which is common to all the available manuscripts is genuine and original. It seems for the most part to be reliable to exclude the regional and sectarian interpolations, but the possible contaminations in the text from other sources are not taken into account and no correction is either proposed or accepted. The wandering bards cared very little to verify their recitation from the written texts and the oral transmission influenced by their dialectal phonetic tendencies gave birth to distortion in the pronunciation of words, so that unwarranted archaisms were created. Some of them are now undisputably present even in the critical editions. It is, therefore, acknowledged that we are even now a little away from the border of the ur-Mahābhārata. We are supposed to have gone to the common source of all the manuscripts available to-day, but we have not examined the contents of the text with reference to the internal facts and figures to arrive at the true reading. An examination of the calendar of events seems to bring some correct readings to light.

At certain irregulur intervals in the MBh there are references to tithis, nakṣatras and even the lunar months[1] and we do think that they are intentional, that is, they can be verified by cross references.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

Let us begin from the gambling episode. It takes place in the bright half of Kārttika, which is clear by the terms dyūtapratipad (the first day of the bright half of Kārttika) and dyūta-pūrṇimā or paurṇimī (the day of full moon in Kārttika).

The Pāṇḍavas would have lost the gambling on the first day itself and it would have been repeated on the third day forcing the Pāṇḍvas to go to the forest on the 5th, which makes the Pāṇḍava-pañcamī meaningful. The counting of the period of exile would have begun with reference to the following day of full moon, because only that could be the mile-stone for that purpose in those days. It was also natural that the difference of 11-12 days per year against the solar calendar of 365-6 days should have been ignored.

By ignoring that difference of 11-12 days (i.e. 11 days in the normal year and 12 days in the leap year), the exile of 13 years should terminate on a day which is less by (13×11+3=145 days or) 4 months and 25 days from the day of the bright half of Kārttika, that is, on Jyeṣṭha śukla 6th.

Bhīma's assertion that only half a month was left for the expiry of the period of exile (MBh. 4.20.13) and Draupadī's request two days later for a grace period of 13 days (MBh. 4.23.27) to stay in Virāṭa's house indicates that Kīcaka was killed on Jyeṣṭha kṛṣṇa 8th. At least a month would have passed when the death of Kīcaka would have been reported to the Kauravas.

The 7th and 8th of Dharma-pakṣa (MBh. 4.29.27-8, 4.42.10-1) must be the same dates of Āṣāḍha kṛṣṇa pakṣa, because it was mid-summer (MBh. 4.42.22) and the moon-rise late at night is possible only in the dark half (MBh. 4.22.2).

If the 13th year of the exile ended on Jyeṣṭha śūkla 6th, Bhīṣma's reference to 5 months and 12 nights (MBh. 4.47.3-4) indicates that 17 days more have passed when the period of exile

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

terminated. The marriage of Abhimanyu and Uttarā would have taken place in the bright half of Āṣāḍha.

The battle started on the amāvasyā in the month of Mārgaśīrṣa (5.140.16-18), which had occurred on trayodaśī (13th) this year, a rare phenomenon (6.3.28). Prior to it, on the day of full moon in Kārttika, the fiery-looking moon was lustre-less and invisible (6.2.23). Thus it is clear that the battle was fought throughout the bright half of Mārgaśīrṣa[2]. Then Bhīṣma was struck down on the 10th day of the war on Mārg. śukla 9th or so[3] and the battle ended after 18 days on Pauṣa kṛṣṇa 3rd or so. There was a period of aśauca for one month upto Māgha kṛṣṇa 2nd or so (12.1.2). Supposedly, they entered Hastināpura on 3rd and the coronation of Yudhiṣṭhira took place on that very day (12.38.30-41).[4] The śrāddha-karma of the relatives was performed on the next day. Probably on 6th Yudhiṣṭhira and Kṛṣṇa went to Kurukṣetra to pay a visit to Bhīṣma (12.48.1-2).

It is here that we come across a doubtful number of days in a faulty language :

pañcāśatam ṣaṭ ca kurupravīra, śeṣam dinānām tava jīvitasya
(MBh. 12.51.14)

We have here pañcāśatam (accusative) in place of pañcāśat (nom.), qualifying śeṣam (neuter !), but it suits the Upajāti metre. The acc. form may be justified by taking it to be the object of some transitive verb like "I think," but the calendar of events after the war is badly disturbed.[5]

The same doubtfut number occurs at the end of the Anuśāsana parva (13.153.5-6) :

uṣitvā śarvarīḥ śrīmān pañcāśan nagarottame.

Here it is in nominative when acc. is required. This form only saves the Anuṣṭubh metre from having one syllable too many, but the calendar of events is again disturbed.[6]

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

The authenticity of this number becomes doubtful in the Mahābhārata itself at another place.

When Yudhiṣṭhtra came to Bhīṣma for the second time, it was Māgha śukla 10th, a tithi more or less.[7]

His lying on the bed of arrows for 58 nights, which is as good as two lunar months, when added to Mārg. śukla 9th (the day on which he was struck down) brings up to Māgha śukla 9th or 10th.[8]

Therefore the number fifty seems to be a wrong substitute for some appropriate number sounding similarly.

It the number fifty in 12.51.14 (pañcāśatam) and 13.153.5-6 (pañcāśat) is replaced by the similar-sounding fifteen i. e. pañcadaśa, with the admissible archaism of length on the second and fourth syllables,[9] 15+6 added to Māgha kṛṣṇa 6th (the date of the first visit) gives Māgha śukla 12th which is supposed to be the tithi on which Bhīṣma died. Again, Māgha śukla 10th (the date of the second visit) minus 15 days (which Yudhiṣṭhra spent at Hastinapur after Bhīṣma's discourse) brings the tithi to Māgha kṛṣṇa 10 (the day on which he would have gone to Hastināpura to come back once again), which, when deducted by Māgha kṛṣṇa 6 (the date of the first visit) gives only 4 days for the discourse. This time is sufficient to incorporate the genuine portion of the Śānti and Anuśāsana parvans of the Mahābhārata.

By the addition of* pañcā-daśā, the Upajāti metre remains faultless in 12.51.14 and just one syllable is too many in an otherwise good Anuṣṭubh in 13.153.56.

In the 16th year after the coronation the elders in the royal family retired to the forest and in the 36th year the Pāṇḍavas themselves left this world.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

NOTES

1. The lunar month from full-moon to full-moen (when the Sun and the Moon stand at a distance of 180 degree) consists of 29.5 days. Thus a lunar year consists of 354 days, less by 11 or 12 days from the solar year of 365 or 366 days.

2. This fact, however, appears to be contradicted on the 14th day of the battle (7.150.42-49), when the moon is said to be rising in the east. This, possible only in the dark half, needs clarification.

   As a matter of fact, as the battle had started on amāvasyā, it should have been Mārg. śukla 13th on the 14th day of the war. But the whole sky was covered with dust and the moon was not visible, When there was a temporary caese-fire, the dust settled down on the earth and the moon became visible, the night itself being in the third phase.

   Thus it was the bright half of the month and the appearance of the moon late at night should not confuse us.

3. We may ignore the loss or increase in tithis which do not go side by side with the solar day : one tithi may extend for two days or two tithis may end in one day.

4. This coronation of Yudhiṣṭhira seems to have been copied down from the Rāmāyaṇa of Vālmīki (Yuddha Kāṇḍa 128.68ff). The only difference is this that it took place in the dark half, though the odd tithi is a good day for the coronation. Due to the fluctuation of dates in a lunar month, it might have also been the day of full Moon in the previovs month (Pauṣa), because it was after some days of coronation that Kṛṣṇa was seen meditating about Bhīṣma in the early morning when a visit to him was planned.

5. According to this reckoning, Bhīṣma should die on (Māgha kṛṣṇa 6th+56 days=) Caitra kṛṣṇa 2nd or so, while it is widely known that he died on Māgha śukla 12th, when the Sun just began the northern course. This day is called Bhīṣma-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

dvādaśī. Unfortunately, to put us in confusion, there are also—aṣṭamī and ekādaśī !

6. Because Māgha kṛṣṇa 6th+the days of discourse+50 days take us again to the beginning of Caitra, when the Sun is almost reaching the equator and not just on the turning point.

7. māgho' yaṁ sam anuprāpto māsaḥ puṇyo yudhiṣṭhira /
tribhāgaseṣaḥ pakṣo' yaṁ śuklo bhavitum arhati //
13.153.28.

The pakṣa of a lunar month is usually divided into three parts, each group of five tithis having special names. Thus, if the third part of the śukla pakṣa of Māgha is remaining, it should be exactly daśamī.

8. aṣṭapañcāśatam rātryaḥ śayānasyādya me gatāḥ 13.153.27

9. The lengthening and shortening of a vowel is a common form of archaism in the Indian bardic recitation.

———

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

BRIEF COMMUNICATION
ROOTS WITH -kṣ- IN SANSKRIT

Dr. Madhusudan Mishra

The ligature kṣ in Sanskrit generally represents two morphological elements : k is the final sound of some root and ṣ represents the suffix s, though in case of jakṣ (eat)<jaghas, etc. it is the part of the root itself. The first element k—has resulted from the following sounds : k, gh, c. j, ś, ṣ and h.

In most cases, -ṣ is the desiderative suffix, but the loss of the reduplicated syllable and even the consequent change in meaning make the situation doubtful. In forms like bubhuk-ṣa-ti, didhak-ṣa-ti, etc. -ṣ- is conspicuous as desiderative suffix due to full desiderative form. But the roots like śikṣ (learn), rakṣ (protect), etc. appear to be original not formally but also semantically, because the desiderative meaning is only distantly perceivable.

Some roots of this type are discussed below with regard to their forms and original meanings.

The root śās (rule over) has its weak base śiṣ (as available in śiṣ-ṭa, śiṣ-ya). The desiderative from the weak base would have been *śiśikṣa-ti/te (probably having the passive meaning, i. e., desire to be ruled over), but the reduplicative syllable was dropped and śikṣate also lost the strong desiderative sense.[1]

The desiderative base from rāj (rule over) would have been *rirak-ṣa-, but again the reduplicative syllable was lost and "desire to rule over" changed into "protect" (a reasonable shift in meaning).

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

This rakṣ underwent further shift in meaning in the derivatives like rakṣas (demon) which originally meant "protector" or, earlier, even "desirous of ruling over". This remarkable shift in meaning speaks a lot about the original social status of the rākṣasa community.

The following relatianships of roots are remarkable :—

yakṣa (goblin)>yiyakṣa from yaj (worship)

cakṣ (see, as in cakṣus "eye") <*cakāk-ṣa- fram kāś (shine)

dakṣ (in dakṣiṇā "sacrificial fee") from dāś (give) through *didākṣa—

akṣ (reach) from aś+sa

īkṣ (see) fron iṣ+sa (desire to search for). cf. parīṣṭi from parīkṣ—

ukṣ (sprinkle) : vah (impregnate)

dīkṣ (consecrate) ; dih (annoint)

bhakṣ (eat) : bhakta (boiled rice)

bhikṣ (ask for, beg) : bhaj (share)

makṣ (fly) : *mac in mañca (high seat), macān (id) in Hindi etc.

Though out of place in this context, the roots ending with sibitants are cognate with some words with a dental base :

as (in as-ta "going dawn of the sun") : adh-as (downward)

aś-nā-ti (eats) : at-ti (eats).

daś-a-ti (bites) :danta (teeth)

iṣṭakā (burnt brick) : idhma, indhana. etc.

1. It has the following meanings : learn. study, acquire knowledge. The original meaning is concealed in some derivatives; thus śikṣā also means punishment, chastisement.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

SPECIFIC ROOTS OF SANSKRIT

Dr. Madhusudan Mishra

The words in a language are fewer in number as compared with the ideas. That is why, a single word often bears the responsibility of conveying two or more ideas. Only the areas of these ideas are so distant that the chances of confusion are few. On the other hand, there are some roots in Sanskrit which are intimately connected with some specific ideas and their derivatives turn round them.

The root vah (to carry) relates to militarism : Thus vāhinī is 'a battalion of fighting soldiers'; vyūha refers to 'various strategies of the actual warfare'; the participle vyūḍha means 'arranged in warfare'; and so on.

The root śās (to rule over) has academic undertone : Thus śāstra refers to 'various disciplines in the traditional curriculum'; śiṣṭa refers to 'disciplined and cultured academicians'; śiṣya is evidently 'a disciple under some revered teacher'; the abbreviated desiderative śikśate (learns) < *śiśikṣate originally meant 'is desirous to be ruled over'; śāstā (=śāstṛ) is 'a master in academic matters' (later adopted by the Buddhists and hence) with a duplicate śā sitṛ in the sacred literature).

Other specific roots are to be looked into literature.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

EARLY FOREIGN WORDS IN HINDUSTĀNĪ

Dr. Madhusudan Mishra

By Hindustānī both Hindi and Urdu are understood. It is a creole built on the body of some post-Apabhraṁśa language spoken around Delhi and Agra. Though the foreign language contributes towards the vocabulary alone, in one definite case even the grammar was influenced by the Persian language, As a rule, the Hindustānī words do not change in sg. and the masc. words do not change even pl. But once the Hindustānī word baccā (child) chanced to meet the Persian counterpart bacce. The striking similarity in form and meaning paved the way for the solitary a declension in masc words: sg. ghoṛā : pl. ghoṛe, oblique, voc. ghoṛe.

When Hindustānī was crystalised as independent language, there was the influx of European missionaries, traders, etc. in India. New foreign words began to pour into Hindustānī. We are surprised to learn that the early words borrowed in Hindustānī are not English but French and Portuguese.

Among the words for cosmetics there is a solitary sābun (soap)<Fr. savon, savonette. Among the words for costumes we have : pājāmā<Fr. pyjama, kəmīj<chemise, pətlūn<pantalon. There may be a few more.

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

(मुख्यालय)

(1)	अंकगणितम् बीजगणितम्	2-10
(2)	चन्द्रगोल विमर्शः	27-00
(3)	मलयमारुतम् भाग 3 तथा भाग 4	प्रत्येक 5-00
(4)	मीमांसा नयविवेकः	50-00
(5)	प्रोसीडिंग्स आफ फर्स्ट इन्टरनेशनल संस्कृत कान्फेरेन्स खंड-1 से खंड-5 (8 भाग)	प्रत्येक 20-00
(6)	संस्कृत विमर्शः खंड 1 से खंड 16	प्रत्येक 15-00
(7)	युभातः संस्कृतं प्रति	32-00
(8)	भाट्टदीपिका खंड-1 से खंड-4	सैट 285-00
(9)	प्रोसिडिंग्स आफ फिफ्थ वर्ल्ड संस्कृत कान्फेरेन्स	166-00
(10)	भारतीय सौन्दर्य शास्त्रावतारः	83-00
(11)	शारदा लिपि दीपिका	67-00
(12)	अनुसंधानप्रविधिप्रक्रिया	16-50
(13)	श्लोक वार्तिकम् टीका सहितम्	—
(14)	कात्यायन श्रौत पद्धति	145-00
(15)	रामचरितामृतम	25-00
(16)	निबन्ध रत्नमाल	43-00
(17)	संस्कृत साहित्य सुधा (हिन्दी ट्रांसलेशन)	52-00
(18)	,, ,, ,, (अंग्रेजी ट्रांसलेशन)	52-00
(19)	वैदिक संकलन (हिन्दी ट्रांसलेशन)	72-00
(20)	परिभाषेन्दुशेखरः	154-00

प्रकाशित होने वाली पुस्तकें

(1)	नय विवेकः (भाग II)	प्रेस में

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानस्य प्रकाशनानि

भारत सरकार के मानस संसाधन विकास मंत्रालय के अधीन राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान एक स्वायत्तशासी संस्था है। इसके द्वारा आठ केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ (दिल्ली, तिरुपति, जम्मू, इलाहाबाद, गुरुवायूर, जयपुर, लखनऊ तथा पुरी) में संचालित हैं।

संस्थान को प्रसन्नता है कि इसने अब तक अपने मुख्यालय एवं सम्बद्ध केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठों के माध्यम से संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न पक्षों— जैसे आलोचना, इतिहास, भाषाविज्ञान, जीवनी, शोध तथा दुर्लभ एवं अप्राप्य पाठ्य ग्रंथों के प्रणयन एवं प्रकाशन करने का गौरव प्राप्त किया है।

पुस्तक सूची के अनुसार क्रेताओं से आग्रह है कि वे कृपया पुस्तक खरीदने एवं इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए तत्तद् विद्यापीठ के प्राचार्य/अधिकारियों से सीधा सम्पर्क करें।

विक्रय नियम

1. पुस्तकें अग्रिम भुगतान के बाद ही भेजी जाती हैं।
   भुगतान, मनीआर्डर द्वारा अथवा बैंक ड्राफ्ट द्वारा सम्बद्ध विद्यापीठ के प्राचार्य को किया जाना चाहिए।
2. डाक व्यय एवं पैकिंग के लिए अलग से भुगतान करना होगा।
3. हमारे प्रकाशन की खरीद पर मिलने वाली छूट की दरें निम्नलिखित हैं —

(1) अध्यापक और छात्र	15%
(2) पुस्तकालय	
(क) पाठ्यपुस्तकों पर	15%
(ख) शोध-पत्रिका	25%
(ग) अन्य प्रकाशन	20%
(3) पुस्तक विक्रेता	40%

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection